गाँधी-साहित्य

गाँधीजी के जीवन और उनके सिद्धान्तों को समझने के लिए हमारे यहाँ का उच्च-कोटि का गाँधी-साहित्य मँगाकर पढ़िए—

१.	आत्म-कथा (दोनों खण्ड) सजिल्द	१॥)
२.	अनीति की राह पर	।≤)
३.	दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह (दो भाग)	१।)
४.	हमारा कलंक	॥=)
५.	अनासक्तियोग गीताबोध	।=)
६.	राष्ट्र वाणी	॥=)

गाँधी-विचार-दोहन

लेखक
किशोरलाल घ० मशरूवाला

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर

बारह आने

प्रथमबार २१५०

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता-साहित्य मण्डल अजमेर ने उच्चकोटि की पुस्तकें सस्ती निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

—मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर।

प्रकाशक की ओर से—

इस दोहन के मूल कर्ता श्री किशोरलाल घ० मश्रुवाला गुजराती के एक प्रसिद्ध और उच्चकोटि के तत्त्व-विचारक एवं लेखक हैं। महात्माजी के सहवास का, विचारों और सिद्धान्तों का ही नहीं, बल्कि उनके प्रयोगों के साधन-रूप उनके आश्रम और जीवन का भी सूक्ष्मता और गंभीरता के साथ अध्ययन और मनन करने का उन्हें पूरा अवसर मिला है। सत्याग्रहाश्रम साबरमती के एक प्रभावशाली शिक्षक और गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ के यशस्वी महामात्र (Registrar) के रूप में वे महात्माजी के अत्यन्त निकटवर्ती सहयोगी रह चुके हैं और अब भी विले-पार्ले (बम्बई के एक उपनगर) का गाँधी-विद्यालय उन्हीं के तत्त्वावधान में चल रहा है। * इस विद्यालय में ग्राम-शिक्षण की व्यवस्था की गई थी, जिसमें विद्यार्थियों को महात्माजी के सिद्धान्त और विचारों के परिचय कराने का भार श्री किशोरलाल भाई पर पड़ा। उसकी तैयारी में से ही इस पुस्तक की उत्पत्ति हुई है।

यों तो श्री किशोरलाल भाई खुद ही महात्माजी के इतने प्रिय और निकटवर्ती स्वाध्यायी हैं कि उनके इस दोहन में सहसा भूल या विपर्यास होने की सम्भावना कम है; फिर भी उन्होंने श्री काका साहब कालेलकर तथा श्री आनन्द स्वामी एवं अन्य गाँधी-स्वाध्यायियों को यह दिखाली है और इसके प्रकाशन में उनका प्रोत्साहन भी कारणीभूत है। तजवीज तो यही थी कि प्रकाशित होने से पहले सारी पुस्तक महात्माजी को दिखाली जाय, परन्तु देश की वर्तमान परिस्थिति में यह संभव न हो सका। इस कारण यद्यपि एक प्रामाणिक और चिन्तायुक्त स्वाध्यायी के द्वारा महात्माजी के विचारों और सिद्धान्तों का यह दोहन प्रस्तुत हुआ है, फिर भी लेखक का कहना सच है कि इसे तबतक पूरी प्रमाण-भूतता नहीं

---

* इस समय तो लेखक सविनय कानून-भंग के सिलसिले में बम्बई-इलाके में कैद हैं और विद्यालय शायद बन्द है।

प्राप्त हो सकती जबतक महात्माजी स्वयं इसे पूरा न पढ़लें।

यह दोहन महात्माजी के शब्दों में ही नहीं है। लेखक ने महात्माजी के हृदय और मस्तिष्क के तह में प्रवेश करके, उनके लेखों और व्याख्यानों को हज़म करके, अपनी भाषा में लिखने का प्रयत्न किया है। इससे पाठकों को कहीं-कहीं यह शंका होने की सम्भावना है कि यह बात तो हमने महात्माजी के लेखों में कहीं नहीं पढ़ी। परन्तु किसी व्यक्ति को समझने और उसके विचारों को समझाने के लिए, उसके लेखों-व्याख्यानों आदि को पढ़ने की बनिस्बत उसकी सारी मनोरचना और समग्र विचार-सरणी के मूल को ग्रहण करने की अधिक आवश्यकता है। और श्री किशोरलाल भाई महात्माजी के नजदीक अपनी स्थिति और योग्यता दोनों के कारण इस उद्योग के सर्वथा अधिकारी हैं एवं, हमारी समझ से, इसमें उन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की है। इस पुस्तक के द्वारा उन्होंने महात्माजी को एक दृष्टि में या एक-साँस में समझलेने का उपयुक्त साधन पाठकों को दिया है। इसलिए वे केवल गुजराती-भाषियों के ही नहीं, बल्कि जिन-जिन भाषाओं में इसका अनुवाद होगा उन सब के पाठकों के धन्यवाद के पात्र हैं।

हिन्दी अनुवाद हमने, वर्तमान विषम परिस्थिति में, जितना हो सकता था, जल्दी प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। अनुवाद ऐसे सज्जन ने किया है जो महात्माजी के भक्त हैं और जिन्हें उनके विचारों के अध्ययन-मनन का तथा उनके आश्रम में कुछ वर्ष रहने का अवसर मिला है। हमें आशा है कि ऐसे समय, जब कि महात्माजी के विचारों और सन्देशों को ग्रहण करने के लिए देश लालायित हो रहा है, हिन्दी-पाठक हमारे इस प्रयत्न की अच्छी कद्र करेंगे।

खण्ड १२ में से 'वाक्य रचना'-सम्बन्धी एक प्रकरण का अनुवाद नहीं किया गया है, क्योंकि वह गुजराती-भाषियों के लिए ही लिखा गया है।

—मन्त्री।

विषय-सूची

१. धर्म ३-२३

परमेश्वर; सत्य; अहिंसा; ब्रह्मचर्य; अस्वाद; अस्तेय; अपरिग्रह; कायिक परिश्रम; स्वदेशी; अभय; नम्रता; व्रत-प्रतिज्ञा; उपासना

२. धर्म-मार्ग २३-३०

सर्वधर्म समभाव; धर्म और अधर्म; सत्याग्रह; हिन्दू धर्म; गीता-रामायण

३. समाज ३१-४६

वर्ण-व्यवस्था; आश्रम-व्यवस्था; स्त्री-जाति; अस्पृश्यता; भोजन-व्यवहार; विवाह; सन्तति-नियमन; दम्पती में ब्रह्मचर्य; विधवा-विवाह; वर्णान्तर विवाह; विधर्मी के साथ व्यवहार

४. सत्याग्रह ४७-७२

कर्त्तव्यरूप सत्याग्रह; सत्याग्रह का बुनियादी सिद्धान्त; सत्याग्रह के सामान्य लक्षण; सत्याग्रह के प्रसंग; सत्याग्रह के प्रकार; समझाना-बुझाना; उपवास; असहयोग; सविनय-भंग; सत्याग्रही की नियमावली

५. स्वराज्य ७३-८८

रामराज्य; तंत्र सुधार और विधान-सुधार; राष्ट्रीय एकता; ब्रिटिश राज्य के साथ सम्बन्ध; देशी राज्य; देश की रक्षा

६. वाणिज्य ८६-१०८

पश्चिम का अर्थशास्त्र; भारतीय अर्थशास्त्र; धनेच्छा; व्यापार; व्याजवट्टा; मजूरों के प्रश्न; स्वाश्रय और श्रम-विभाग; स्वदेशी; यान्त्रिक साधन

७. उद्योग १०६-१२०

खेती; सहयोगी उद्योग; विशेष उद्योग; हानिकर उद्योग; उपयोगी धन्धे; ललित कलायें

८. गोपालन १२१-१२८

धार्मिक दृष्टि; अन्य प्राणियों का पालन; प्राणियों के प्रति क्रूरता; गोवध

९. खादी १२६-१४२

चरखे के गुण; चरखे के सम्बन्ध में ग़लत धारणाएँ; खादी और मिलका कपड़ा; चरखा और हाथ-करघा; खादी-उत्पत्ति की क्रियायें; घर बनी और ख़रीदी हुई खादी; यज्ञार्थ कताई; खादी कार्य

१०. स्वच्छता और आरोग्य १४३-१६६

शारीरिक स्वच्छता; सुघड़ आदतें; बाह्य स्वच्छता; शौच; जलाशय; बीमारियाँ; इलाज; आहार; व्यायाम

११. शिक्षा १६७-१८०

शिक्षा का ध्येय; अराष्ट्रीय शिक्षा; राष्ट्रीय शिक्षा; औद्योगिक शिक्षा; बाल-शिक्षा; ग्राम-शिक्षा; स्त्री-शिक्षा; धार्मिक-शिक्षा; शिक्षा का माध्यम; अंग्रेज़ी भाषा; भाषा-ज्ञान; राष्ट्र-भाषा; इतिहास; शिक्षा के अन्य विषय; शिक्षक; विद्यार्थी; छात्रालय

१२. साहित्य और कला १८१-१९६

साधारण विचार; साहित्य की शैली; अनुवाद; अख़बार; कला

१३. स्वयं-सेवक १९७-२०८

स्वयं-सेवक के सामान्य लक्षण; ग्राम-सेवक के कर्त्तव्य

१४. संस्थायें २०९-२१६

संस्था की सफलता; संस्था का संचालक; संस्था के सभ्य; संस्था का आर्थिक व्यवहार

गांधी-विचार-दोहन

१. धर्म

२. धर्म-मार्ग

३. समाज

४. सत्याग्रह

५. स्वराज्य

६. वाणिज्य

७. उद्योग

८. गोपालन

९. खादी

१०. स्वच्छता और आरोग्य

११. शिक्षा

१२. साहित्य और कला

१३. स्वयं-सेवक

१४. संस्थायें

किशोरलाल मशरूवाला

धर्म

1 परमेश्वर

2 सत्य

3 अहिंसा

4 ब्रह्मचर्य

5 अस्वाद

6 अस्तेय

7 अपरिग्रह

8 कायिक परिश्रम

9 स्वदेशी

10 अभय

11 नम्रता

12 व्रत-प्रतिज्ञा

13 उपासना

१. परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का, स्थिर करने योग्य, एक ध्येय है। जीवन के दूसरे तमाम कार्य इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए हैं।

२. जो काम—प्रवृत्तियाँ—इस ध्येय के विरोधक मालूम हों उन्हें त्याज्य समझना चाहिए—फिर भले ही मोटे तौर पर देखने से उनका फल कितना ही ललचानेवाला और लाभकारी प्रतीत हो।

३. जो काम—प्रवृत्तियाँ—इस ध्येय के साधक मालूम हों उन्हें अवश्य करना चाहिए—फिर भले ही वे कठिन और स्थूल दृष्टि से हानिकर प्रतीत हों अथवा उनमें कैसी ही जोखम रही हो।

४. इस परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। उसके सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एक रूप रहने वाला, विश्व का आत्मारूप अथवा आधार-रूप और उसका कारण है। वह चेतन अथवा ज्ञान-स्वरूप है। उसी का एक सनातन अस्तित्व है। शेष सब नाशमान् हैं। यदि एक छोटे शब्द का प्रयोग उसके लिए करना चाहें तो उसे हम 'सत्य' कह सकते हैं।

५. इस तरह परमेश्वर ही सत्य है और सत्य का अर्थ है परमेश्वर।

१. सत्य का अर्थ है परमेश्वर—यह सत्य का पर अथवा ऊँचा अर्थ हुआ। अपर अथवा साधारण अर्थ में सत्य के मानी हैं सत्य विचार, सत्यवाणी और सत्यकर्म।

२. जो सत्य है वही, दूर का हिसाब लगाने से, हितकर अथवा भला है। इसलिए सत्य अथवा सत् का अर्थ भला भी होता है; और जो विचार, वाणी और कर्म सत्य है वही सद्विचार, सद्वाणी और सत्कर्म है।

३. जो विचार हमारी राग-द्वेष-हीन श्रद्धा और भक्तियुक्त तथा निष्पक्ष बुद्धि को सदैव के लिए, अथवा जिन परिस्थितियों तक हमारी दृष्टि पहुँच सकती है उनमें, अधिक से अधिक समय तक के लिए, उचित और न्याय प्रतीत हो वही हमारे लिए सद्विचार है।

४. जो वाणी, कर्तव्यरूप हो जाने पर, हमारे ज्ञान या जानकारी को सही सही प्रकट करती है और उसमें ऐसी कमी-वेशी करने का यत्न नहीं करती है कि जिससे अन्यथा अभिप्राय भासित हो, वह सत्यवाणी है।

५. विचार में जो सत्य प्रतीत हो उसके विवेक-पूर्वक आचरण का नाम ही सत्य कर्म है।

६. चाहे यह कहिए कि पर सत्य को, जिसे हमने परमेश्वर कहा है, जानने के लिए यह अपर सत्य साधन है; अथवा यह कहिए कि सत्यविचार, वाणी और कर्म की—अपर सत्य के पालन की—पूर्ण सिद्धि का ही नाम परमेश्वर का साक्षात्कार है; साधक के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है।

जिस प्रकार आमतौर पर लोग सत्यवादिता में ही सत्य को मूर्तिमान् कर लेते हैं, परन्तु केवल सत्यवाणी में सत्य-पालन का पूरा समावेश नहीं होता; उसी तरह लोग आम-तौर पर केवल 'दूसरे जीव को न मारना' इतने ही में अहिंसा को मूर्तिमान कर लेते हैं, परन्तु केवल प्राण न लेने से ही अहिंसा की साधना पूरी नहीं हो जाती है।

अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं है, बल्कि मन की एक वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गंध तक न हो उसे अहिंसा समझना चाहिए।

ऐसी अहिंसा उतनी ही व्यापक है जितना कि सत्य। इस अहिंसा की सिद्धि होना असंभव है, इसलिए सत्य, यदि दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो, अहिंसा की पूर्णता का ही नाम है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं है; फिर भी, समझने की सुविधा के लिए, सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन माना है।

अब एक और तरह से हम सत्य और अहिंसा को समझने का प्रयत्न करें। चित्त के हम दो भाग करलें—(१) विचार शक्ति अथवा बुद्धि, और (२) भावुकता अथवा भावना। बुद्धि की अत्यन्त शुद्धि को सत्य और भावना की अत्यन्त शुद्धि को अहिंसा समझिए।

ये—बुद्धि और भावना—सिक्के की तरह—चित्त की दो

बाजुयें हैं; इसीलिए सत्य और अहिंसा ये एक ही तत्व का परिचय कराने वाली दो बाजुयें हैं।

६. कितने ही धर्मों में जो यह कहा गया है कि ईश्वर प्रेम-स्वरूप है सो उस प्रेम और अहिंसा में कोई भेद नहीं है।

७. प्रेम के शुद्ध रूप का ही नाम अहिंसा है। परन्तु प्रेम में राग और मोह की गंध आ जाती है। जहाँ राग और मोह होगा वहाँ द्वेष का भी बीज अवश्य होगा। इसीलिए तत्व-वेत्ताओं ने प्रेम शब्द का प्रयोग न करके 'अहिंसा' की योजना की है और कहा है कि 'अहिंसा परम धर्म है।'

८. अहिंसा-धर्म का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे के शरीर या मन को दुःख या चोट न पहुँचाना; यह तो अहिंसा धर्म का एक दृश्य परिणाम कहा जा सकता है। स्थूल दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि किसी के शरीर और मन को तो दुःख या हानि पहुँच रही है, परन्तु वास्तव में वह शुद्ध अहिंसा धर्म का पालन हो। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि वास्तव में हिंसा तो की गई है परन्तु वह इस तरह से कि जिस से शरीर या मन को दुःख अथवा हानि पहुँचाने का आरोप न किया जा सके। अतएव अहिंसा का भाव दृश्य परिणाम में नहीं, बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेष-हीन स्थिति में है।

९. फिर भी दृश्य परिणामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि यद्यपि वे हैं तो स्थूल साधन तथापि हमारे मन में विकसित अहिंसा-वृत्ति को स्वयं हमारे तथा दूसरों के सम-

करने के लिए वे नाप का काम देते हैं। सामान्य जीवन-व्यवहार में तो मन में पोषित अहिंसा इसी रीति से वाणी और कर्म-द्वारा प्रत्यक्ष होती है जिससे इतर प्राणियों को उद्वेग न हो। अहिंसामय कष्ट पहुँचाने के अवसर तो जीवन में इने-गिने ही आते हैं।

१०. परन्तु इतने से यह नहीं कह सकते कि अहिंसा की साधना पूरी हो गई। अहिंसा का साधक केवल इतने सेही सन्तोष नहीं मान सकता कि वह ऐसी वाणी बोले, ऐसा कर्म करे जिससे किसी जीव को उद्वेग न प्राप्त हो, अथवा मन में भी उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव न रहने दे; बल्कि जगत् में प्रवर्तित दुःखों की ओर भी वह देखेगा और उन्हें दूर करने के उपायों का विचार करता रहेगा। इस प्रकार अहिंसा केवल निवृत्ति रूप कर्म या निष्क्रिया नहीं, बल्कि जबरदस्त प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है।

४ : : ब्रह्मचर्य

१. जिस प्रकार अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि सम्भवनीय नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना सत्य और अहिंसा दोनों की सिद्धि असंभव है।

२. ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ओर जाना अर्थात् अपने मन और इन्द्रियों को परमेश्वर की ओर ले जाना।

३. रागादिक विकारों के बिना अ-ब्रह्मचर्य अर्थात् इन्द्रिय-परायणता कभी नहीं हो सकती और विकारयुक्त मनुष्य न सत्य का पूर्ण पालन कर सकता है, न अहिंसा का।

४. इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य-रक्षा अथवा काम-जय ही नहीं, बल्कि इसमें सभी इन्द्रियों का संयम आवश्यक है।

५. परन्तु जिस प्रकार सत्य की वाणी में और अहिंसा की केवल प्राण न लेने में भी परिसमाप्ति कर दी गई है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की इति श्री कामजय में ही कर दी गई है। इससे ब्रह्मचर्य का अर्थ सिर्फ कामजय ही हो गया है। और, इसका कारण यह है कि मनुष्य को कामजय ही सबसे कठिन इन्द्रिय-जय मालूम होता है।

६. सच पूछिए तो जीवन के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए दूसरी इन्द्रियों का कुछ न कुछ भोग आवश्यक होता है; परन्तु ब्रह्मचर्य से जीवन-निर्वाह असंभव नहीं होता, उल्टा अधिक अच्छा और तेजस्वी होता है। किन्तु दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को आहार-विहार में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है, इसलिए वह समस्त इन्द्रियों का अपेक्षाकृत अधिक भोग करता है। इस कारण उसमें काम-वेग वर्ष में केवल कुछ दिनों के ही लिए नहीं उत्पन्न होता बल्कि वह निरंतर ।पोषित करता रहता है। इस प्रकार काम-विकार उसके लिए एक निरंतर का रोग हो जाता है और उसे जीतना उसके लिए बहुत कठिन हो गया है।

७. परन्तु विचारशील मनुष्य देख सकता है कि दूसरी इन्द्रियों

का पोषण किये विना काम को वहुत पोषण नहीं मिल सकता और दूसरी इन्द्रियों को जीते विना काम-जय की आशा रखना फजूल है।

५] :: [अस्वाद

१. इस प्रकार एक व्रत दूसरे व्रत को निमंत्रण देता है। एक इन्द्रिय भी यदि स्वच्छन्द वन जाय तो दूसरी इन्द्रियों का नियंत्रण भी ढीला पड़ जाता है। फिर भी, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से, जीतने में सबसे कठिन और महत्वपूर्ण इन्द्रिय है जिह्वा अर्थात् स्वादेंद्रिय। इस बात पर स्पष्ट रूप से ध्यान रहे, इसलिए स्वाद-जय को व्रत में खास स्थान दिया गया है।

२. शरीर में से जो तत्त्व घिसते चले जाते हैं उनकी पूर्ति करके शरीर की स्थिति को काम करने योग्य वनाने के लिए आहार की जरूरत है। इसलिए, इसी दृष्टि से, जितने और जिस प्रकार के आहार की जरूरत है उतना ही लेना चाहिए। स्वाद के लिए—अर्थात् जीभ को रुचिकर मालूम हो इसलिए—कुछ खाना या किसी वस्तु को खुराक में शामिल करना, अथवा अधिक आहार करना, यह अस्वाद-व्रत का भंग है।

३. अस्वाद-वृत्ति से चलाये संयुक्त भोजनालय में जाकर जो भोजन वहाँ वना हो उसमें से हम उन चीजों को लेलें जो

हमारे लिए त्याज्य न हों, और उन्हें ईश्वर का अनुग्रह मान कर, मन में भी उसकी टीका न करते हुए, सन्तोषपूर्वक उतना ही खालें जितना हमारे शरीर के लिए आवश्यक हो। यह रीति अस्वाद-व्रत में बहुत सहायक है।

६] : : [अस्तेय

१. अस्तेय का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि जिस वस्तु पर हमारा स्वामित्व नहीं है उसे न लें। परन्तु उस वस्तु का भी उपयोग करना, जो कि मानी तो हमारी ही जाती हो परन्तु जिसकी हमें आवश्यकता न हो, चोरी ही है। दूसरे की वस्तु पर दिल बिगाड़ना मानसिक चोरी है। दूसरों के विचार अथवा शोध—आविष्कार—को लेकर अपनी वस्तु के रूपमें पेश करना विचार-सम्बन्धी चोरी है।

२. यदि हम यह मानें कि जगत् की समस्त वस्तुओं पर परमेश्वर का स्वामित्व है और प्राणिमात्र उसके तत्त्वावधान में एक कुटुम्ब-रूप है तो फिर हमें सिर्फ उतनी ही वस्तुओं के उपभोग करने का अधिकार रहता है जो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हों। उससे अधिक अपना अधिकार समझना चोरी है।

७] : : [अपरिग्रह

१. अस्तेय और अपरिग्रह में बहुत थोड़ा भेद रहता है। जो आज हमारे लिए आवश्यक नहीं है, उसे भविष्य की

चिन्ता रख कर संग्रह कर रखना परिग्रह है। परमेश्वर पर विश्वास रखने वाला मनुष्य यह मानता है जिस वस्तु की जब निश्चित रूप से आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी और इसलिए वह किसी के भी संग्रह करने के फेर में नहीं पड़ता।

२. इसका यह अर्थ नहीं है कि परमेश्वर उस व्यक्ति की भी जरूरियात को पूरा कर देता है जो हट्टा-कट्टा होते हुए भी परिश्रम नहीं करता है। जिसकी नीयत मिहनत करने की नहीं है, अथवा जो मिहनत करना एक आफ़त समझता है, उसे तो यह विश्वास ही नहीं हो सकता कि परमेश्वर सब का भरण-पोषण कर देगा, बल्कि उसका दारोमदार तो अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही होता है। परन्तु परमेश्वर उसके निर्वाह की चिन्ता अवश्य करता है जो अपनी शक्ति भर पूरा-पूरा परिश्रम करता है और श्रम करने में ही प्रतिष्ठा समझता है एवं फिर भी अपरिग्रही रहता है।

३. परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मनुष्य समाज में रहकर अपरिग्रह-व्रत को पालन करना चाहता है वह अपने पास आई हुई वस्तुओं को रास्ते पर फेंक देगा या उन्हें बिगड़ने देगा। बल्कि वह अपने को उनका रक्षक समझेगा और उनको ठीक हिफ़ाजत से रक्खेगा—हाँ, वह अपने को उनका मालिक एक पल भर के लिए भी न समझेगा और, इसलिए, जिन्हें उनकी जरूरत है उन्हें इस्तेमाल करने देने में रुकावट न डालेगा। जो मनुष्य अपने या अपने वाल-

बच्चों के काम आने की अभिलाषा से एक चिन्धी भी बटोर रखते हैं और जरूरत पड़ने पर दूसरे को इस्तेमाल नहीं करने देते वे परिग्रही हैं; और जिसके मन की वृत्ति ऐसी नहीं है वह लाख रुपये की पूँजी रखते हुए भी अपरिग्रही है

८] : : [कायिक परिश्रम (उत्पत्ति में)

१. जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के लिए स्वयं कायिक परिश्रम करना, यह अस्तेय और अपरिग्रह से उद्भव होने वाला सीधा नियम है। जो पदार्थ बिना परिश्रम के नहीं पैदा होते और जिनके बिना जीवन निभ नहीं सकता, उनके लिए बिना कायिक परिश्रम किये उनका उपभोग करना जगत् के प्रति अपने को चोर ठहराना है।

२. ऐसे परिश्रम का नाम है यज्ञ। यदि हम अपने ही किये परिश्रम से उत्पन्न पदार्थों का स्वयं ही उपभोग करने की अभिलाषा रक्खें तो वह सकाम यज्ञ कहलाता है। ऐसी अभिलाषा के बिना जो यह समझकर परिश्रम करता है कि इतने पदार्थ तो जगत् के लिए पैदा करना आवश्यक ही हैं, तो उसके परिश्रम को निष्काम यज्ञ कहते हैं॥

३. अनर्थकारी पदार्थों की उचित व्यवस्था करने के लिए जो परिश्रम किया जाता है वह भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। ऐसा परिश्रम भी हरेक को अवश्य करना चाहिए।

४. इस दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि हम सब लोग,

जो कि यह सब पढ़ और समझ सकते हैं, अपने कायिक परिश्रम से जितना उत्पन्न कर सकते हैं उससे अधिक उपभोग करते हैं और फ़जूल संग्रह कर रखते हैं; फिर अनर्थकारी वस्तुओं की व्यवस्था करने के लिए हम शायद ही कायिक परिश्रम करते हों। इससे अनेक प्राणियों को तंगी और कष्ट भुगतना पड़ता है—और हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हम अस्तेय और अपरिग्रह का भंग क़दम-क़दम पर कर रहे हैं।

५. इस कारण, हमें अस्तेय आदि व्रतों की दिशा में ले जाने वाला जबरदस्त साधन यह है—अपनी आवश्यकताओं को और निजी परिग्रह को जितना हो सके उतना घटाते जावें, और उत्पादक श्रम के लिए तथा अनर्थकारी पदार्थों के उचित प्रबंध के लिए निष्काम भाव से और यज्ञ-बुद्धि से नियमपूर्वक कायिक श्रम करने में योग दें।

६. इसके लिए भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में कताई तथा मल-मूत्र को साफ करके उसकी उचित व्यवस्था आश्रम में यज्ञ-कर्म मानी गई है। इसका अधिक विचार आगे किया जायगा।

६] :: [स्वदेशी

१. कायिक परिश्रम के सिद्धान्त में से ही स्वदेशी-धर्म उद्भव होता है।

२. जो व्यक्ति अस्तेय और अपरिग्रह का आदर्श अपने सामने रखता है वह लाचारी की हालत में ही दूसरे के परिश्रम से लाभ उठावेगा।
अपने निजी दैनिक काम—जैसे कि भोजन बनाना, कपड़े धोना, मल-मूत्र साफ करना, बरतन माँजना, हजामत करना, झाड़ू देना आदि—के लिए वह दूसरों की सेवा अभिमानपूर्वक—यह समझ कर कि ऐसी सेवा लेने में अथवा इन कामों को स्वयं न करने में मान या प्रतिष्ठा है—नहीं ग्रहण करेगा। परन्तु यदि लेगा भी तो अपनी अशक्ति या प्रेम के परिणाम स्वरूप, अथवा अपने साथियों के साथ अंगीकृत कामों में सुविधा की दृष्टि से उत्पन्न श्रम-विभाग के कारण। इसमें ऐसी भावना की गंध तक न होगी कि यह काम बड़ा है और यह छोटा, और केवल बड़ा काम करने वाला आदरणीय और छोटा काम करने वाला हेय, तुच्छ है।

३. ऊपर के सूत्र में जो सिद्धान्त बताया गया है वह तो आदर्श हुआ। परन्तु जब हम साथीपन की भावना का विस्तार करते हैं, और जगत् के व्यवहार में जो बातें प्रत्यक्षतः हो रही हैं उनका विचार करते हैं तो हमारी कितनी ही ज़रूरियात को प्राप्त करने के लिए कुटुम्ब अथवा साथियों के ही साथ सहयोग-मूलक श्रम-विभाग काफ़ी नहीं होता। बल्कि पड़ौसी और ग्रामवासियों के साथ भी सहयोग और श्रम-विभाग करना पड़ता है। इसीमें से स्वदेशी-धर्म की उत्पत्ति हुई है।

४. स्वदेशी व्रत का जन्म महज देशाभिमान के विचार में से नहीं, धर्म-विचार में से हुआ है। समस्त विश्व के साथ बन्धुत्व की भावना रखने का प्रयत्न करते हुए भी जिन पड़ौसियों में हमारा जीवन दिनरात गुजरता है, अनेक विषयों में जिनके साथ हमारा सम्बन्ध बँध गया है और बँधता रहता है, उन्हीं के साथ हमारा पहला व्यवहार उचित है। ऐसे धर्मयुक्त व्यवहार की अवगणना करने से विश्व-बन्धुत्व सिद्ध नहीं हो सकता—वह केवल ढोंग बन-कर रह जायगा।

५. राष्ट्रीयता की भावना से उपजा स्वदेशी-विचार विदेशियों के के अहित की उपेक्षा ही करेगा और संभव है कि उनके अहित की घात में भी वह रहे। स्वदेशी की सहायता के लिए वह केवल धर्माचरण करके ही न बैठ रहेगा, संभव है अधर्माचरण भी करे। यही भेद धर्मरूप स्वदेशी और राजनैतिक स्वदेशी में है।

१०] :: [अभय

१. जो मनुष्य अपने मन के विकारों के अलावा दूसरी आप-त्तियों का भय रखता है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इस कारण अभय दैवी सम्पत्तियों में ऐसा गुण है जिसे प्रथम प्राप्त करना चाहिए।

२. मनुष्य आम तौर पर बीसों बातों से डरता रहता है—जैसे,

मौत से, शारीरिक कष्टों से, धन-नाश से, मार-काट से, जुल्म और अत्याचार से, मान-हानि से, लोक-निन्दा से, कौटुम्बिक क्लेश से अथवा इस खयाल से कि कुटुम्बियों को दुःख होगा, खयाली वहमों से, आदि आदि से जो मनुष्य डरता है वह धर्माधर्म का गहरा विचार करने का साहस ही नहीं कर सकता। वह सत्य की खोज नहीं कर सकता और न प्राप्त होने के बाद उस पर आरूढ़ ही रह सकता है। इस तरह उससे सत्य का पालन भी नहीं हो सकता।

३. मनुष्य के लिए डरने योग्य वस्तु सिर्फ एक ही है—अपने विकार से युक्त चिंता। चाहे ईश्वर का डर कहिए, अधर्म का डर कहिए, या अपने विकार रूपी शत्रु का डर कहिए, तीनों एक ही हैं। यदि विकार न हों तो अधर्म नहीं हो सकता, और अधर्म का डर न हो तो 'ईश्वर का डर' यह शब्द-प्रयोग ही नहीं ठहर सकता।

११] : : [नम्रता

१. नम्रता को अहिंसा का ही एक अंश कह सकते हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ नम्रता में कमी समझना चाहिए। जो अहंकारी है वह सर्वात्मभाव नहीं रख सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी आ जाती है।

२. शून्यवत् होकर रहना, यह नम्रता की पराकाष्ठा है। मैं भी कुछ हूँ, मुझमें कुछ विशेषता है—ऐसा भान अपने शरीर,

मन, बुद्धि, विद्या, कला, चतुरता, पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, उदारता, व्रत-पालन अथवा खुद विनयादि गुणों के विषय में रहता हो और इससे अपने अन्दर आढ्यता का अनुभव होता हो तो इसे अहंकार कहते हैं। ऐसे भान का कम से कम होना—जैसे कि अपने नीरोग अवयवों के विषय में होता है—शून्यवत् स्थिति अथवा नम्रता है।

१२] :: [व्रत-प्रतिज्ञा

१. सत्यविचार के अनुसार आचरण करने और उसपर दृढ़ रहने तथा उसके विपरीत आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा को व्रत कहते हैं।

२. ऐसा निश्चय किये बिना सत्यनिष्ठ दशा अर्थात् मन, वचन और कर्म से सत्यरूप परमात्मा में ही सदैव स्थिति को नहीं पहुँच सकते।

३. परमेश्वर या सत्य के साक्षात्कार करने का अर्थ यह हो सकता है—"मन, वचन और कर्म के द्वारा जिन सत्य सिद्धान्तों का ज्ञान हमें हुआ है, अविचल रूप से उनका आचरण करते-करते जीवन और जगत् के सत्य स्वरूप के विषय में जो स्पष्ट ज्ञान और अनुभव होता है उन सब का योग अथवा सार।" इस अविचलता में जितनी ढिलाई होगी उतनी ही कमी सत्य के परिचय में होगी।

४. असावधानता में, कुसंगति के कारण, अथवा पहले की

कुटेवों और कुसंस्कारों के कारण, मन अपने कृत निश्चयों पर टिका नहीं रहता; इस कारण उसे व्रत रूपी बेड़ियों से कस लेना, उसे स्थिर करने का एक अच्छा उपाय है।

५. यह तो स्पष्ट ही है कि व्रत सिर्फ सत्यविचार, सत्यवाणी और सत्यकर्म का ही लिया जा सकता है। असत्य विचार, असत्य वाणी अथवा असत्यकर्म का व्रत नहीं लिया जा सकता और यदि लिया भी गया हो तो उसे छोड़ देना पड़ता है।

६. जब तक यह न प्रतीत हो कि यह असत्य है तबतक जो व्रत एक बार लिया जा चुका है वह किसी दशा में तोड़ा नहीं जा सकता है। उसका पालन करते हुए जो कठिनाइयाँ आवें उनका सामना करना ही चाहिए।

१. नम्र मनुष्य हरएक के प्रति मान और विनय दरशाता है; परन्तु सबका अर्थ यहाँ इतना ही है कि जिन जिनको वह जानता—पहचानता है; परन्तु सत्य तो उन सब में व्याप्त है, जिनको वह जानता हो, या न जानता हो। मनुष्य को तो इतनी ही प्रतीति हो सकती है कि 'सत्य है।' और उसका कुछ अंश ही वह अपने में या जगत् में खोज सकता है। परन्तु उसमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह सत्य का पूर्ण रूप से आकलन कर सके। फिर भी वह निराश नहीं होता। वह यह आशा नहीं छोड़ देता कि सत्य की खोज करते-करते आखिर सत्य का आकलन मुझे अवश्य होगा और मैं उसके साथ तदात्म हो जाऊंगा—भले ही मैं दूसरों को उसका ज्ञान न करा सकूँ। उस आशा को व्यक्त करने की, तथा जिस अनंत सत्य को वह खोजता है उसके प्रति अपना आदर तथा भक्तिभाव प्रदर्शित करने की और उसकी महिमा गाने की, एवं उसके लिए अपनी व्याकुलता प्रकट करने की एक रीति उपासना है।

२. फिर, जो मनुष्य सत्य-शोधक है वह जगत् की सेवा करते-करते एक विशेप परिस्थिति की आवश्यकता तो स्पष्ट रूप से देख सकता है; परन्तु उसे अपनी इच्छा के अनुसार बना नहीं सकता। और वह तो विश्व के नियमों के अनुसार ही बन सकती है। ऐसे समय, बुद्धि को दीख पड़ने वाले

समस्त शुद्ध उपायों का अवलम्बन करते हुए भी, वह परिणाम के विषय में धीरज रखता है। और जिस प्रकार किसान बोआई की सारी तैयारी करके बरसात के लिए मेघ की ओर देखता है उसी प्रकार वह प्रार्थनामय हृदय से परमेश्वर की ओर देखता रहता है।

३. नाना विकार-रूप शत्रु हमारे अन्दर ही घुसे रहते हैं और उनपर विजय प्राप्त करने की शक्ति भी अन्दर से ही पैदा होनी चाहिए। अपने बुद्धि-बल पर ही उन्हें बस में करने का जो प्रयत्न करता है वह उस मनुष्य की तरह है जो एक शत्रु को निकालने के लिए दूसरे को अन्दर बुलाता है। ऐसे समय समझदार आदमी जिस प्रकार अपने मित्र की ही सहायता लेता है उसी प्रकार नम्र और विवेकी मनुष्य प्रार्थना के द्वारा परमेश्वर रूपी मित्र की सहायता लेता है।

४. सन्तों ने नाम-स्मरण की बहुत महिमा गाई है। क्योंकि भक्ति अकेले नाम स्मरण के द्वारा भी पूर्ण रूप से प्रकट हो सकती है और सब प्रकार की सहायता दे सकती है। इसलिए यदि नाम स्मरणमात्र ही उपासना का स्वरूप हो तो बस है। परन्तु इससे उपासना की दूसरी विवेकयुक्त विशेष विधियों का निषेध नहीं होता।

५. जो बल और शान्ति एक भक्त को अकेले प्रार्थना करने से प्राप्त होती है, उससे दूनी ही नहीं बल्कि बहुत अधिक दो के सम्मिलित होकर शुद्ध चित्त से प्रार्थना करने पर होती है। इस प्रकार सामुदायिक प्रार्थना का बल अधिकाधिक

बढ़ता ही जाता है। इतिहास में ऐसे कितने ही उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ सामुदायिक प्रार्थना के अन्त में, अत्यन्त निराशाजनक स्थिति में भी, प्रार्थियों को अपना कार्य सफल करने का बल मिला है।

६. परन्तु प्रार्थना की मुख्य शर्त है श्रद्धा। बिना श्रद्धा के की गई प्रार्थना से न बल मिल सकता है, न शान्ति।

ध
र्म
मा
र्ग

१ सर्वधर्म समभाव

२ धर्म और अधर्म

३ सत्याग्रह

४ हिन्दू धर्म

५ गीता-रामायण

१] : : [सर्वधर्म समभाव

१: प्रत्येक युग में और प्रत्येक राष्ट्र में सत्य के तीव्र शोधक और जन-कल्याण के लिए अत्यन्त उत्साह रखने वाले विभूतिमान पुरुष और सन्त पैदा होते हैं। उस युग और देश के दूसरे लोगों की अपेक्षा वे सत्य का कुछ अधिक दर्शन किये होते हैं। कुछ तो यह दर्शन सनातन सिद्धान्तों का होता है और कुछ तत्कालीन परिस्थिति से उत्पन्न हुआ होता है। फिर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कितने ही सिद्धान्तों को वे सनातन रूप में देख और समझ तो लेते हैं; किन्तु उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए, उस युग और देश की स्थिति के अनुकूल मर्यादा के अन्दर ही उसकी प्रणाली उन्हें सूझती है। इन्हीं कारणों से जगत् में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति हुई है।

२. जो इस तरह विचार करता है उसे किसी धर्म में सत्य का अभाव नहीं दिखाई देगा, साथ ही किसी धर्म को वह पूर्ण सत्य के रूप में भी नहीं ग्रहण करेगा। वह देखेगा कि सब धर्मों में परिवर्तन और विकास के लिए जगह है। वह यह भी देखेगा कि यदि विवेक-पूर्वक अनुसरण किया जाय तो प्रत्येक धर्म अपनी प्रजा का कल्याण साधन कर सकता है और जिसके दिल में लगन लगी है उसे सत्य की झलक

दिखाने तथा शान्ति और समाधान प्राप्त कराने में समर्थ है।

३. ऐसे लोग यह अभिमान नहीं रख सकते कि हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है, और मनुष्य मात्र के उद्धार के लिए आवश्यक है। वह न तो अपने धर्म को छोड़ेगा ही और न उसके दोषों की ओर से आँखें ही मूँदेगा। स्वधर्म के प्रति जैसा भाव वह रक्खेगा वैसा ही दूसरे धर्मों और अनुयायियों के प्रति रक्खेगा। और वह इतनी ही इच्छा रक्खेगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने धर्म के उत्तमोत्तम सिद्धान्तों का यथावत् पालन करें।

४. निन्दक बुद्धि तो परधर्म में छिद्र ही देखेगी। इसके विपरीत सत्यशोधक प्रत्येक धर्म में से सत्य के विकसित अंश को ग्रहण कर लेगा। इस कारण सत्यशोधक प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को ऐसा ही प्रतीत होगा मानों वह उन्हीं के धर्म को मानता है। इस प्रकार सत्यशोधक अपने जन्म-धर्म का त्याग किये बिना ही सब धर्मों के अनुयायी की तरह प्रतीत होगा।

२] :: [धर्म और अधर्म

१. सत्यशोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रक्खेगा; परन्तु अधर्म का तो विरोध ही करेगा—फिर वह अधर्म चाहे अपने धर्म के नाम पर चल रहा हो चाहे स्वतंत्ररूप से चल रहा हो।

२. सब धर्मों में कुछ-न-कुछ अपूर्णता हुई है, इससे प्रत्येक धर्म में धर्म के नाप पर अधर्म घुस जाता है। पर चूँकि वह धर्म के नाम पर घुस गया है इसलिए धर्म और अधर्म में भेद करना कठिन होता है; परन्तु वह करना है लाजिमी।

३. किसी भी धर्म के प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र में कोई दोष हो तो उस पर ज़ोर देकर उस धर्म को लोगों की निगाह में गिराना—यह तरीक़ा निन्दकों का है। परन्तु उन दोषों को यदि दूसरों के लिए आचरण के नियम के तौर पर पेश किया जाता हो तो वह अधर्म है और उसका अवश्य विरोध किया जा सकता है।

४. आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि अधर्म वह है जो सत्य आदि यम-नियमों का इस प्रकार विरोधक है कि जिससे वह धर्म के विकास का नहीं, बल्कि भंग का पोषण करता है। यह निश्चय करना है तो कठिन; परन्तु भक्तिमान और विवेकशील पुरुष को वह अपने आप सूझता रहता है।

५. सत्यशोधक अधर्म का तो सब जगह विरोध करेगा; परन्तु उसके साथ ही वह अधर्म और अधर्मी में भेद भी करेगा। अधर्म का विरोध करता हुआ भी वह अधर्मी व्यक्ति से द्वेष न करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अधर्मी का विरोध वह सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा ही करेगा। अधर्म का नाश करने के लिए वह असत्य, हिंसा आदि अधर्मयुक्त साधनों का अवलम्बन करके उलटा अधर्म मोल नहीं लेगा।

१. इस तरह अब हम सत्याग्रह के तत्त्व तक आपहुँचे हैं, सत्याग्रह की संक्षिप्त व्याख्या यह हो सकती है कि स्वयं सत्यादि धर्मों के पालन का आग्रह रखना और सत्यादि साधनों के द्वारा ही अधर्म का विरोध करना।

२. विरोध करने में खास करके अहिंसा-भंग की सम्भावना रहती है, इसलिए अहिंसा पर अधिक जोर देकर कहा जाता है कि अहिंसामय साधन से अधर्म के विरोध का नाम है सत्याग्रह। 'सत्याग्रह' के नाम से जिस युद्धविधि का प्रचार हुआ है उसके शुद्ध प्रकार का यह स्थूल स्वरूप कहा जा सकता है।

३. अधर्म का विरोध करने के लिए आवश्यक सत्याग्रह का सविस्तार विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर तो इतना ही कहना बस होगा कि जितनी सिद्धि हमने अपने आचरण में सत्यादि नियमों के पालन में की होगी, उतनी ही शक्ति हमें अधर्म के विरोध-रूप में किये गये सत्याग्रह के लिए मिल जायगी और उसके उचित विधि-विधान सूझते जायंगे।

४. परन्तु इस शान्ति का आना सत्याग्रही जीवन का दूसरा और प्रत्यक्ष फल कहा जा सकता है। यह फल निकले या न निकले;परन्तु इसका मुख्य फल तो है सत्य-रूपी परमेश्वर की पहचान ही।

१. हिन्दुओं के लिए हिन्दू-धर्म काफी है। सत्यशोधक को अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए हिन्दू-धर्म में काफी सामग्री मिल जाती है।

२. सनातन हिन्दू-धर्म में श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, सन्तों की संस्कृत अथवा प्राकृतवाणी आदि धर्म-ग्रंथ हैं। इन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न ऋषि, मुनि, कवि और विचारकों ने धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों का और उनकी विविध रीतियों का विवेचन किया है। परन्तु इनके तमाम वचनों का मूल्य एक-सा नहीं समझा जा सकता। इनमें कितने ही तो अग्राह्य भी मालूम होंगे। फिर भी नीर-क्षीर-विवेक से काम लेने वाले जिज्ञासु को ऐसा साहित्य बहुतेरा मिल सकता है जो उसकी धर्म-वृत्ति के लिए पोषक हो।

३. सनातन हिन्दू-धर्म एक सच्चिदानन्द परमात्मा को ही मानता है और कहता है कि वह मन और वाणी से परे है। फिर भी सब कुछ परमात्म रूप है, इस और विभूति के सिद्धान्त के अनुसार उसमें अनेक देवी-देवताओं की जो कि अनेक प्रकार की कामनाओं और रूपकों द्वारा भिन्न-भिन्न आदर्शों के प्रदर्शक हैं, ऐतिहासिक व्यक्तियों की, जिनका कि वर्णन अवतार-रूप में किया गया है और सद्गुरु की उपासना भी, उपासक की रुचि के अनुसार, करने की स्वतन्त्रता रक्खी गई है। सनातन हिन्दू-धर्म की दृष्टि इन दो उपास-

नाओं में विरोध नहीं देखती; वल्कि मेल बैठाती है, इस कारण सनातन—हिन्दूधर्म में मूर्ति-पूजा का निषेध नहीं किया गया है।

४. सनातन हिन्दू-धर्म पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों को मानता है और मोक्ष को अन्तिम तथा श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझता है। उसके लिए यम-नियम, व्रत-संयम, तीर्थ-यात्रा इत्यादि साधनों को विहित वताता है।

५. सनातन—हिन्दूधर्म में वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए महत्व का स्थान है, और गो-रक्षा हिन्दू-धर्म का वहुत वड़ा बाह्यस्वरूप है। परन्तु इन दोनों का विचार स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र करेंगे।

६. भिन्न-भिन्न वैष्णव-सम्प्रदाय सनातन हिन्दू-धर्म की विशिष्ट शाखा हैं। "वैष्णव जन तो तेने कहिए"—इस भजन में जो लक्षण वताये गये हैं वही वैष्णव के सच्चे चिन्ह हैं।

५] : : [गीता-रामायण

१. हिन्दू-धर्म में यों अनेक माननीय ग्रन्थ हैं, फिर भी नित्य-मनन और गहरा अध्ययन करने योग्य दो ही हैं—(१) संस्कृत में गीता और (२) हिन्दी में तुलसी-कृत 'राम-चरित-मानस' इनका महत्व सबसे अधिक है और इन्हें साधारणतः काफ़ी कह सकते हैं।

२. जो तत्त्व-दर्शी और सूक्ष्म-विवेचक हैं उनके लिए गीता है

और जो काव्यमय कथानकों द्वारा सरल और सुबोध रीति से धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, आदि का रहस्य समझना चाहते हैं उनके लिए तुलसी-रामायण है। ये दो पुस्तकें हिन्दू-धर्म में बे-जोड़ हैं।

३. अनासक्तियोग गीता का ध्रुव-पद है—अर्थात् कर्म के फल की अभिलाषा को छोड़ कर सतत कर्तव्य-कर्म में निरत रहना, यह उसका उपदेश है और ऐसी ध्वनि है जो कभी नहीं भुलाई जा सकती। उसमें कर्म-मात्र का निषेध नहीं किया गया है और न यही कहा गया है कि कर्माकर्म में विवेक न करो। बल्कि उसमें दुष्कर्म का निषेध है और सत्कर्म के लिए भी कहा गया है कि फलासक्ति को छोड़ कर करो। सत्य और अहिंसादिक के पूर्ण रूप से पालन किये बिना इस योग की सिद्धि असंभव है।

४. गीता का चाहे जितना पाठ, वाचन और मनन कर जाइए, वह कभी पुराना नहीं मालूम होता। ज्यों-ज्यों विचार करते हैं और उसके अनुसार जीवन बनाते जाते हैं त्यों-त्यों उसकी पुनरावृत्ति में नवीन बोध मिलता ही रहेगा—यही नहीं बल्कि गीता में प्रयुक्त महाशब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलेंगे और विस्तार पावेंगे।

समाज

1. वर्ण-व्यवस्था
2. आश्रम-व्यवस्था
3. स्त्री-जाति
4. अस्पृश्यता
5. भोजन-व्यवहार
6. विवाह
7. सन्तति-नियमन
8. दम्पती में ब्रह्मचर्य
9. विधवा-विवाह
10. वर्णान्तर विवाह
11. विधर्मी के साथ व्यवहार

१] :: [वर्ण-व्यवस्था

१. वर्णाश्रम-सम्बन्धी भेद स्वभावतः ही विश्व के अधिक व्यापक नियमों के परिणाम-स्वरूप हो जाते हैं। हिन्दू ऋषियों ने उन नियमों को पहचान कर हिन्दू-समाज में व्यवस्थित रीति से व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया है और उसी में से वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ है।

२. कुदरती तौर पर वर्ण चार ही हो सकते हैं और चारों में ही सारे समाज का विभाजन होना चाहिए। इन चारों वर्णों में न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा।

३. यदि वर्ण-व्यवस्था का पालन शुद्ध रूप में होता हो तो आम-तौर पर जन्म ही मनुष्य के वर्ण को निश्चित करेगा। परन्तु आज तो वर्ण-व्यवस्था बहुत तरह से तत्त्वतः टूट गई है, इस कारण मनुष्य जन्म-वर्ण के अनुसार न तो कर्म ही करता है और न गुणों को ही प्रदर्शित करता है। इससे जन्म-वर्ण और गुण-कर्म में विरोध मालूम पड़ता है। असली रूप में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था में वे लोग जो जन्म वर्ण से भिन्न वर्ण के गुण-कर्म प्रकट करते हैं अपवाद-रूप ही होंगे। अपवाद-रूप व्यक्तियों का रास्ता हमेशा स्वतंत्र और निराला ही रहता है। उसके बदौलत सामान्य जीवन

के लिए निश्चित नियमों और व्यवस्था का औचित्य कम नहीं हो जाता और उनके अमल में बाधा भी नहीं पड़ती।

४ भिन्न भिन्न वर्णों के जो कर्म भिन्न भिन्न ठहराये गये हैं उसका हेतु यह नहीं है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण के कर्मों को करें ही नहीं। सच्चा ब्राह्मण तो वह है जो अच्छे से अच्छा सेवक तो हो; पर साथ ही विद्या-प्रचार रूपी अपना कर्म विशेष रूप से करता हो। यही बात दूसरे वर्णों और उनके कर्मों पर घटित होती है।

५ वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जो जाति-भेद पड़ गया है वह हिन्दू धर्म का धार्मिक अंग नहीं है, बल्कि केवल आकस्मिक कारणों से और रूढ़ि से उत्पन्न हो गया है। उसके मूल में विश्व के किसी सनातन नियम का अनुभव नहीं प्रतीत होता। इसलिए जाति-उपजातियों को आवश्यकतानुसार तोड़ने में हर्ज नहीं है और आज ऐसी आवश्यकता पैदा भी हो गई है।

२] : : [आश्रम-व्यवस्था

१ आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति भी प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित रूप से व्यवहार में लाने के प्रयत्न में से हुई है।

२ सब वर्ण के लोगों को सब आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार है।

३ ब्रह्मचर्याश्रम में तो मनुष्य का जन्म ही होता है। इस

कारण इसी आश्रय को बिल्कुल अनिवार्य कह सकते हैं। इस आश्रय को कभी न छोड़ने का—अर्थात जावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का अधिकार जो चाहे उसे है। फिर भी कम से कम २५ वर्ष तक पुरुष को और १८ वर्ष तक स्त्री को पवित्रता-पूर्वक इस आश्रम में रहना चाहिए।

४ दूसरे समस्त आश्रमों की उज्वलता का आधार इस आश्रम के पवित्र और संयत जीवन पर है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से पहला आश्रम ही मुख्य आश्रम है। इस आश्रम के लोप हो जाने से हिन्दू धर्म और हिन्दू-समाज को बड़ी हानि पहुँची है। इस आश्रम को तेजपूर्ण बनाना प्रत्येक हिन्दू का परम कर्तव्य है।

५ गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत विवाह-धर्म का विचार दूसरे प्रकरण में किया जावेगा। धर्म-मार्ग के अनुसार समाज की सम्पत्ति बढ़ाने का विशेष भार इस आश्रम पर है।

६ यह खयाल कि गृहस्थाश्रम तो भोग-विलास के लिए है, भ्रमपूर्ण है। हिन्दूधर्म की सारी व्यवस्था ही संयम की पुष्टि के लिए है। इसका अर्थ यह हुआ कि भोग-विलास हिन्दूधर्म में कभी अनिवार्य हो ही नहीं सकता। गृहस्थाश्रम में भी सादगी और संयम दूषण नहीं, बल्कि भूषण ही समझे गये हैं।

परन्तु, संयम के आदर्श का पोषण करते हुए भी, मनुष्य कितने ही भोगों के प्रति होने वाले आकर्षण को रोक नहीं सकता। इसलिए गृहस्थाश्रम का धर्म उन भोगों

की मर्यादा बना देता और उनके सेवन की विधि बता देता है।

७ गृहस्थ इन लोगों को क्रमशः कम करते हुए उनके मोह से छूटने का यत्न करता है और इस शक्ति के प्राप्त होते ही वह फिर ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके अथवा उसे फिर सतेज करके, वानप्रस्थ बनता है। जिसने अभी अपने राग-द्वेष पर पूरा विजय नहीं प्राप्त कर लिया है, परन्तु जो इन्द्रियों को रोक सकता है और रोक कर बैठा है, कह सकते हैं कि वह वानप्रस्थ है।

८ जसने रागद्वेप को पूरे तौर पर जीत लिया है, जो काया, वाचा और मन तीनों से सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे कह सकते हैं कि यह संन्यासी हो गया है। ऐसा पुरुप सब विभूतियों का स्वामी होता है; वह नम्र होगा फिर भी जगत् उसके चरणों में होगा; कोई उसका उपहास करने अथवा तिरस्कार करने की इच्छा न रक्खेगा।

९ आश्रमों का बाहरी वेष-भूषा से कोई संबंध नहीं है।

३] : : [स्त्री-जाति

१ हिन्दू-समाज में स्त्री-जाति के प्रति जो तुच्छ भाव देखा जाता है वह एक दोष है, हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। धार्मिक पुरुष भी इस तिरस्कार-भाव से मुक्त नहीं रह सके यह इस दोष की गहराई को प्रकट करता है।

२ स्त्री और पुरुष में प्राकृतिक भेद भले ही हों, और इस कारण नित्य जीवन में उनके कर्तव्य भी भले ही भिन्न-भिन्न हों, फिर भी दोनों में न कोई ऊँचा है, न नीचा; बल्कि समाज के दोनों एक से महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठा-पात्र अंग हैं।

३ पुरुष एक ओर से स्त्री को दबाता है, अज्ञान में रखता है, उसकी अवगणना और निन्दा करता है; और दूसरी ओर से उसे अपनी भोग-तृप्ति का साधन समझता है एवं इसी उद्देश से उसे अपनी इच्छा के अनुसार पुतली की तरह सजाता है, उसकी मिन्नत-खुशामद करता है और इस तरह उसके भोग-भावों को उत्तेजित करने का ही यत्न करता है। इन दोनों कारणों से अकेली स्त्री-जाति का नहीं; बल्कि पुरुष और समस्त समाज का भी भारी अधःपात हो गया है।

४ जो माता-पिता पालन-पोषण और शिक्षण के विषय में लड़के और लड़की में भेद-भाव करते हैं और लड़की के प्रति अपना कर्तव्य कम समझते हैं वे पाप करते हैं।

५ वयःप्राप्त पुरुष को जितनी स्वतंत्रता का अधिकार है उतना ही स्त्री को भी है।

६ स्त्री अबला नहीं है, बल्कि यदि अपनी शक्ति को पहचान ले तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता होकर जिस प्रकार बालक का जीवन बनाती है और पत्नी होकर जिस प्रकार पति को आगे चलाती है, अधिकांश में पुरुष

उसी प्रकार के बनते हैं।

७ स्त्री-जाति में जो अपार शक्ति छिपी हुई है वह उसकी विद्वत्ता अथवा शरीर-बल के बदौलत नहीं, बल्कि उसकी तीव्र श्रद्धा, भावना का वेग और अत्यन्त त्याग-भाव के बदौलत है। उसकी वृत्ति स्वभावतः ही कोमल और धार्मिक होती है। पुरुष जहाँ श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है अथवा हिसाब लगाने बैठता है और उसी में चक्कर खाता रहता है तहाँ वह साहस करके क़दम बढ़ाती हुई तीर की तरह चली जाती है।

८ जगत् में धर्म की रक्षा स्त्री-जाति के ही बदौलत हुई है।

९ स्त्री-जाति यदि अपने बल और अपने कार्य-क्षेत्र की दिशा को ठीक-ठीक समझ ले तो वह कभी यह नहीं मान सकती कि वह पुरुष की दबैल है और पुरुष का तथा उसके कामों का अनुकरण करने का आदर्श अपने सामने न रक्खेगी। वह पुरुष को आकर्षित करने के लिए, अथवा रिझाने के लिए अपने शरीर को नहीं सजावेगी, बल्कि अपने हृदय के गुणों से ही अपने को सुशोभित करने का यत्न करेगी।

१० स्त्री-जाति को सार्वजनिक कामों में पुरुष के बराबर ही योग देना चाहिए। मद्यपान-निषेध, पतित स्त्रियों का उद्धार आदि कितने ही ऐसे काम हैं जिन्हें स्त्री ही अधिक सफलता के साथ कर सकती हैं।

११ स्त्रियों में यह एक बड़ा भ्रम फैला हुआ है कि उन्हें विवाह

अवश्य करना चाहिए। उन्हें भी जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य पालने का अधिकार है।

१२ स्त्री अपनी इच्छा के विरुद्ध पति की काम-वासना को तृप्त करने के लिए बाध्य नहीं है। जो पति ऐसा करता है वह उतना ही दोषी है जितना कि एक व्यभिचारी होता है।

४] : : [अस्पृश्यता

१ अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें घुसा हुआ एक महान् दोष है, अन्धविश्वास है, पाप है, और उसको दूर करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, परम कर्त्तव्य है।

२ वर्ण तो चार ही हो सकते हैं। इसलिए अस्पृश्यों का समावेश इन्हीं चार वर्णों में होना चाहिए।

३ जन्म से मानी गई इस अस्पृश्यता में अहिंसा-धर्म का तथा सर्व-भूतात्म भाव का निषेध हो जाता है। इसके मूल में संयम नहीं, बल्कि उच्चपन की उद्धत भावना है। इस कारण यह स्पष्ट रूप से अधर्म है। इसने धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों लोगों को गुलामों की हालत में डाल रक्खा है।

४ सार्वजनिक मेले, बाजार, दुकान, मदरसे, धर्मशाला, मंदिर, कुएँ, रेल, मोटर आदि स्थानों में, जहाँ दूसरे हिन्दुओं को आजादी से जाने और उनसे लाभ उठाने का अधिकार है वहाँ अस्पृश्यों को भी अवश्य अधिकार है। जो व्यक्ति इस अधिकार से उन्हें वञ्चित रखता है वह अन्याय

करता है। जो लोग उनके इस अधिकार को मानते हैं वे उनपर मेहरबानी नहीं करते हैं, बल्कि अपनी ही भूल का सुधार करते हैं।

सैकड़ों वर्षों के अमानुष व्यवहार और संस्कारवान् वर्णों के संसर्ग से वञ्चित रहने के फल-स्वरूप अस्पृश्यों की स्थिति इस क़दर करुणाजनक हो गई है, और वे इतने नीचे गिर गये हैं कि उन्हें दूसरे वर्गों की कोटि में चढ़ाने के लिए संस्कारवान् हिन्दुओं को ख़ास तौर पर उद्योग करने की आवश्यकता है। इस कारण अस्पृश्य तथा दूसरी दलित या पिछड़ी जातियों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना, इस कार्य में उदारता-पूर्वक सहायता करना, इस युग के प्रत्येक संस्कारवान हिन्दू का परम पवित्र कर्तव्य है। इस दृष्टि से दलित जातियों के लिए ख़ास संस्थाओं और सुविधाओं की बहुत गुंजायश है। परन्तु ऐसी खास संस्थाओं और सुविधाओं की व्यवस्था कर देने से उनका सार्वजनिक संस्थाओं और सुविधाओं से लाभ उठाने का अधिकार चला नहीं जाता है।

अछूतों की स्थिति सुधारने के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि उनके परम्परागत पेशे उनसे छुड़वाये जायँ अथवा उनके प्रति उनके मन में अरुचि उत्पन्न की जाय। इस उद्देश से उनके अन्दर काम करना उनकी सेवा नहीं, असेवा होगी। जब धुनकर धुनते रहें, चमार चमड़े को सुधारते रहें, और भंगी पाखाने साफ करते रहें और फिर भी वे अछूत

न समझे जायँ तभी कह सकते हैं कि अस्पृश्यता दूर हुई।

८ भंगी समाज की गंदगी को दूर करके उसे साफ-सुथरा रखने का कर्तव्य नित्य करते हैं, यदि वह नियमित रूप से उस कार्य को न करें तो सारा समाज मरणासन्न दशा को पहुँच जाय। यह कहना यथार्थ नहीं है कि वे अपने पेशे के बदौलत इस प्रकार संस्कारहीन तथा निर्बल स्थिति को प्राप्त हुए हैं। इन पेशों को भी दूसरे पेशों के बराबर ही उच्च समझना उचित है। दूसरे पेशों की तरह इसमें भी सुधार करने की गुञ्जायश बहुत है; परन्तु यह प्रश्न बिल्कुल अलग है। संस्कारवान् हिन्दू इन पेशों को अपना कर उनमें सुधार कर सकते हैं।

९ अछूतों में जो मुर्दा-मांस खाने की प्रथा घुस गई है वह यह दिखलाती है कि उनकी दरिद्रता कितनी करुणाजनक है। उनकी दरिद्रता दूर करने से और इस बुराई की हानि समझाने से यह दूर हो सकती है।

१० सिर्फ अपने आचार को ही अच्छा रखने से संस्कारवान् नहीं बन सकते। अपना व्यवहार ऐसा रखना कि जिससे दूसरों को अशुद्ध आचरण करने पर विवश होना पड़े तो यह भी अ-संस्कारिता की निशानी है। जो वर्ण अपने को संस्कारवान मानते हैं वे अछूतों को अपनी जूठन खिलावें, बासी या उतरी हुई चीजें दें और अपने पशु से भी गया-बीता व्यवहार उनके साथ करें तो यह केवल असंस्कारिता ही नहीं, पाप भी है।

५] :: [भोजन-व्यवहार

१ वर्ण-व्यवस्था के फल-स्वरूप अपने वर्ण में ही रोटी-व्यवहार करना आवश्यक नहीं है। संयम की दृष्टि से इसका पालन सर्वथा सदोष नहीं है, और यदि विवेक के साथ उसकी मर्यादा रक्खी जाय तो प्रशंसनीय भी है।

२ परन्तु रोटी-व्यवहार को जो महत्व दिया जाता है वह उचित मर्यादा के बहुत आगे निकल गया है और संयम के बदले उलटा भोग को उत्तेजन देने वाला और ऊँच-नीच की भावना पैदा करने वाला बन गया है।

३ इससे, आज तो यही कहना होगा कि परवर्ण के हाथ का शुद्धता से पकाया गया भोजन जो हमारे लिए अभक्ष्य न हो, त्याज्य न समझना चाहिए।

४ इससे यह नतीजा निकलता है कि सार्ववर्णिक संस्थाओं और ऐसी जगह जहाँ सबके लिए एक-सा खाना पकता हो, पंक्ति-भेद बिल्कुल न रखना चाहिए।

६] :: [विवाह

१ विवाह हो जाने से सब तरह के भोग-विलास करने की छुट्टी मिल जाती है, यह विचार पापमय है। स्त्री-पुरुषों का भोग एक ही उद्देश से धर्म-युक्त हो सकता है। वह है दोनों की सन्तानेच्छा। इस इच्छा को पूर्ण करने की शुद्ध विधि का नाम है विवाह।

२ परन्तु विवाह केवल प्रजोत्पादन के लिए नहीं किया जाता; अतएव सन्तान की इच्छा न होने से विवाह व्यर्थ या निषिद्ध नहीं हो जाता। समाज में अनेक आवश्यक कार्य ऐसे हैं जो स्त्री-पुरुष दोनों को मिलकर करने चाहिएँ। उन कार्यों में दोनों एक-दूसरे के धर्म-सहचारी बनें यह भी विवाह का प्रयोजन हो सकता है।

३ प्रजोत्पादन की इच्छा के बिना, तथा एक-दूसरे की रज़ा- मंदी के बिना यदि पति-पत्नी भोग करें तो वह पाप समझा जाय।

७] :: [सन्तति-नियमन

१ बिना विचारे सन्तान बढ़ाते रहना, या उसकी इच्छा करते रहना, जड़ता का चिह्न है।

२ आज सन्तति का बिना विचारे होनेवाली वृद्धि को रोकने की बहुत आवश्यकता है। परन्तु उसका धर्मयुक्त मार्ग एक ही है—ब्रह्मचर्य।

३ सन्तति-नियमन के कृत्रिम उपाय धर्म, तथा नीति के विरुद्ध और परिणाम में विनाश की ओर ले जाने वाले हैं। इनसे समाज का हर तरह अधःपात होता है।

८] :: [दम्पती में ब्रह्मचर्य

१ विवाहित स्त्री-पुरुष को ऋतु-गामी होना चाहिए, इसका अर्थ यह नहीं है कि ऋतुकाल में उन्हें अवश्य भोग करना

चाहिए। फिर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि दो में से एक की इच्छा न हो तो भी दूसरे की भोगेच्छा तृप्त करनी ही चाहिए।

२. इस कारण, यदि दो में से किसी की इच्छा इतनी मन्द पड़ जाय कि वह अपने शरीर को स्वाधीन रख सके तो उसे ब्रह्मचर्य धारण करने का अधिकार है। इसके लिए वह दूसरे का सहयोग तो चाहेगा, परन्तु स्वीकृति को आवश्यक न मानेगा।

३. पति असम्मत हो तो स्त्री के ऐसे निर्णय से उसकी स्थिति के कठिन होने की संभावना अवश्य है। उस स्त्री ने यदि अपना धर्म स्पष्ट रूप से समझ लिया है तो वह सत्याग्रह के बल से इस कठिनाई को सह लेगी और दुःख भोग लेगी।

४ पति के ऐसे निश्चय से भी, यदि स्त्री की भोगेच्छा प्रबल हो तो, उसकी स्थिति कठिन हो जाती है। क्योंकि क़ानून और लोकमत दोनों ऐसी स्थिति में पत्नी के प्रतिकूल है। परन्तु जो पति इस तरह धर्म-भाव से ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करता है वह अपनी पत्नी का रास्ता सुगम बना देगा। वह ऐसे योग्य पुरुष की तलाश में उसकी सहायता करेगा जो क़ानून की परवा न करके अपने को उस स्त्री के साथ धर्म-विवाह से बँधा हुआ मानेगा और समाज तथा क़ानून की ओर से जो कठिनाइयाँ पैदा होंगी उन्हें सहन कर लेगा। इस तरह क़ानून में सुधार करने का रास्ता भी वह सुगम कर देगा।

१. हिन्दू विधवा त्याग और पवित्रता की मूर्ति है। वह माता की तरह सबके लिए पूजनीय है। उसे अशुभ समझने वाला हिन्दू-समाज महान् अपराध करता है। शुभ कार्यों में उसकी उपस्थिति और आशीर्वाद प्राप्त करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। पवित्र विधवा को समाज का भूषण समझ के उसकी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए।

२. परन्तु स्त्री-जाति के प्रति जो तुच्छ भाव हिन्दू-समाज में प्रचलित है उसने विधवा के साथ अन्याय करने में कोई कसर नहीं रक्खी है। इस कारण हिन्दू विधवा की स्थिति अछूतों की तरह ही दयाजनक हो गई है।

३. विधवा त्याग की मूर्ति है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उससे ज़बरदस्ती वैधव्य पालन कराया जाय। बल-पूर्वक कराया गया त्याग उसकी दिव्यता को नष्ट कर देता है और उसे पूजनीय तथा आदर्श बनाने के बदले दयापात्र बना देता है।

४. इस कारण एक विधुर को जितना अधिकार पुनर्विवाह करने का माना गया है उतना ही विधवा को भी है।

५. बाल-विधवा बाल-विवाह का परिणाम है। १५-१६ वर्ष से पहले कन्या का विवाह कदापि न होना चाहिए। ऐसे विवाह के फल-स्वरूप प्राप्त वैधव्य वैधव्य नहीं है। ऐसी विधवा को कुँवारी कन्या समझकर माँ-बाप को उसके विवाह करने की उतनी ही चिन्ता करनी चाहिए जितनी कि वह कुँवारी

कन्या की करते हैं और उसका विवाह कर देना चाहिए।

६ हिन्दू-युवकों से यह सिफ़ारिश है कि वे बाल-विधवा से ही शादी करने का आग्रह रक्खें। युवक विधुर को तो विधवा से ही विवाह करना अपना धर्म समझना चाहिए।

१०] :: [वर्णान्तर-विवाह

१ बेटी-व्यवहार के विषय में संयम, सुख और व्यवस्था क़ायम रखने की दृष्टि से, अपने ही वर्ण में विवाह करने की मर्यादा होना उचित है। इसलिए साधारण नियम तो स्ववर्ण-विवाह का ही ठीक है; वर्णान्तर-विवाह को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता नहीं।

२ परन्तु जो वर्णान्तर-विवाह करता है वह पतित हो जाता है, या बहिष्कार का पात्र है, यह ख़याल ठीक नहीं है।

३ वर्णान्तर-विवाह से जो प्रजा उत्पन्न हो उसका दूसरा वर्ण या जाति बनाना उचित नहीं है। उसका समावेश चार वर्णों में ही हो जाना चाहिए। अर्थात् चाहे पिता के वर्ण में हो चाहे माता के।

४ ऐसे वर्णान्तर-विवाह प्रत्येक युग में होते आये हैं और होते रहेंगे। परन्तु यह अपवाद है और ख़ास तौर पर उत्तेजना देने योग्य नहीं है, इतना समझ लेना काफ़ी है।

११] : : [विधर्मी के साथ व्यवहार

१ विदेशियों और विधर्मियों के साथ रोटी-बेटी-व्यवहार करने के विषय में वही नियम लागू समझने चाहिए जो वर्णान्तर में रोटी-बेटी-व्यवहार के विषय में है। हाँ, इतना और कहा जा सकता है कि इस विषय में ने विशेष-रूप से लागू होते हैं।

सत्या-

१ कर्त्तव्य-रूप सत्याग्रह
२ सत्याग्रह का बुनियादी सिद्धान्त
३ सत्याग्रह के सामान्य लक्षण
४ सत्याग्रह के प्रसंग
५ सत्याग्रह के प्रकार
६ समझाना-बुझाना
७ उपवास
८ असहयोग
९ सविनय-भंग
१० सत्याग्रही की नियमावली

ग्रह

१ दूसरे खण्ड के तीसरे प्रकरण में सत्याग्रह का दिग्दर्शन कराया गया है,-पाठकों को चाहिए कि यहाँ उसे एक बार फिर पढ़ लें।

२ व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि उसमें व्यक्ति की प्रगति अपने समाज की साधारण धर्म-प्रगति से बहुत अधिक नहीं हो सकती। भूतकाल के किसी महापुरुष की तुलना में यदि आज का महापुरुष धर्म-विचार या धर्म-साधना के किसी विषय में आगे बढ़ जाता है तो इसका बहुत-कुछ कारण यही हो सकता है कि उस महा-पुरुष के समय के समाज की अपेक्षा आज का समाज उस तरह के धर्म-विचार और धर्म-साधना में आगे बढ़ा हुआ है। इसी तरह हम आशा रख सकते हैं कि समाज में उत्त-रोत्तर धर्म की शुद्धि होती रहेगी।

३ इस कारण कोई व्यक्ति यदि अपने चारों ओर प्रचलित अधर्म की ओर से आँख मूँद रक्खेगा तो वह अपनी अति-शय आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा

४ इस प्रकार व्यक्ति के लिए अपने अन्दर सत्य-अहिंसादिक धर्मों की सिद्धि के हेतु अपने समाज में प्रचलित अधर्म का विरोध करना कर्तव्य हो जाता है।

५ जिस अंश तक खुद उसके अन्दर सत्यादि गुणों का उत्कर्ष हुआ होगा, और जिस अंश तक उसे वह अधर्म स्पष्ट रूप

से दीखता होगा, उसी अंश तक उसका विरोध करना वह अपना कर्त्तव्य समझेगा और उसके पालन में अपना सारा बल लगावेगा।

२] : : [सत्याग्रह का सिद्धांत

१. मनुष्य कितना ही स्वार्थान्ध क्यों न हो जाय, और कितने ही कुटिल एवं घातक उपायों से काम लेने की उसकी तैयारी हो, फिर भी उसके अन्तस्तल में यह प्रतीति रहती है कि सत्य ही सर्वोपरि है। और इसलिए उसके प्रति आदर और भय बना रहता है। मनुष्य-मात्र के हृदय में स्थित सत्य विषयक ऐसा गुप्त निश्चय, आदर और भय, यह सत्याग्रह-शस्त्र की बुनियाद है। इसीको मनुष्य हृदय-स्थ 'अन्तःकरण की आवाज' कह सकते हैं।

२. स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य कुछ समय तक इस अन्तः-करण की आवाज को न सुनने का अथवा उसे दबा देने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका विरोधी यदि सच्चा सत्याग्रही साबित हो तो अन्त में उस आवाज़ को सुने बिना उसका छुटकारा ही नहीं है।

३. यह आवाज अनेक प्रकार से उसके सामने प्रकट होती है: अपने अन्याय का कायल होजाना और उसके लिए पश्चा-त्ताप करना उसका श्रेष्ठ प्रकार है। इसी को 'हृदय-परिवर्तन' कहते हैं।

४. परन्तु यह आवाज इससे भी कम बल के साथ उठ सकती है—जैसे, लोक-लज्जा के रूप में, अथवा सर्वनाश के भय के रूप में।

५. जब सत्याग्रही का विरोधी कोई एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक राष्ट्र, समाज या तंत्र हो तब यह अन्तर्नाद वहाँ के किसी अधिक चारित्र्यशील व्यक्ति को सुनाई पड़ता है और सब से पहले उसका हृदय-परिवर्तन होता है। वह शख्स फिर अन्य लोगों को वह आवाज सुनाता है और सत्य का पक्ष लेकर उनका विरोध भी करता है।

६. विरोधी के हृदय को 'अन्तःकरण की आवाज' के प्रति जाग्रत करना प्रत्येक सत्याग्रही का साध्य है। अन्याय को दूर करने के *लिए जिन-जिन बातों के करने की* जरूरत है वे सब आगे चल कर, इस साध्य के द्वारा अपने-आप मालूम होती रहती हैं।

३] : : [सत्याग्रह के सामान्य लक्षण

१. अधर्म का विरोध सत्य-अहिंसादि साधनों से ही किया जा सकता है। यह सामान्य नियम सर्वत्र समझना चाहिए।

२. जो सत्याग्रही इस श्रद्धा से कि अधर्म को मिटाने का धर्म-युक्त उपाय अवश्य होना चाहिए, उत्कटता के साथ विचार करेगा उसे विरोध करने की उचित पद्धति अवश्य मिलती जायगी।

३. सत्याग्रह एक ऐसा उपाय है जिससे सत्याग्रही के सिवा दूसरे को कष्ट उठाना नहीं पड़ता। इस कारण यदि सत्याग्रही के निर्णय में भूल भी हुई हो तो उससे प्रतिपक्षी को हानि नहीं उठानी पड़ती। हाँ, यह संभव है कि सत्याग्रही को खुद अधिक कष्ट सहना पड़े।

४. सत्याग्रह के फल-स्वरूप विरोधी के साथ कटुता नहीं बढ़ती बल्कि घटती है, और सत्याग्रह के अन्त में दोनों पक्ष मित्र बनते हैं।

५. सत्याग्रही तब तक विरोध करने की जल्दी नहीं करेगा जब-तक उसे सत्याग्रह की उचित विधि न सूझ पड़ेगी; बल्कि शान्ति और धीरज के साथ ईश्वर से प्रार्थना करता रहेगा और जनता की सेवा और और साधनों से करता रहेगा एवं यह विश्वास रक्खेगा इसी तरीके से एक न एक दिन मुझे स्पष्ट रास्ता दिखाई पड़जायगा, और उस समय उसके अनुसार आचरण करने का बल भी उसमें आ जायगा। अथवा ईश्वर अपनी अनेकविधि शक्तियों के द्वारा उसका कोई रास्ता निकाल देगा।

६. सत्याग्रह का अवलम्बन सत्याग्रहियों का संख्या-बल नहीं है। सच्चे और गलत सत्याग्रह को परखने की कुंजी यही है। अकेला रहजाने पर जो सत्याग्रही अपने निश्चय पर डटा न रहे उसे सच्चा सत्याग्रही नहीं कह सकते। सच्चे सत्याग्रही का लक्षण ही यह है कि अपना पथ स्पष्ट दीख पड़ने पर वह अकेला भी चलने के लिए तैयार हो जाता है।

७. परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि जो अकेला चलने के लिए तैयार हो जाता है वह हमेशा ही सच्चा होता है। परन्तु यदि सच्चा न हो तो उसकी भूल का फल उसी को भुगतना पड़ेगा।

८. सत्याग्रही झूठी प्रतिष्ठा को नहीं मानता। अपनी विचार-पद्धति में या योजना में कहीं भूल मालूम होने पर वह तुरंत रुक जाने में,—कितना ही आगे बढ़ गया हो तो भी 'पीछे हटने' जैसा प्रतीत होता हो तो भी ठहर जाने में—अपनी भूल को स्वीकार करने में तथा उससे होने वाली हानि को धीरज से सहन करने अथवा उसके लिए उचित प्रायश्चित्त करने में वह बिल्कुल न हिचकेगा। क्योंकि सत्याग्रही दूसरे किसी भी विचार या कारण को सत्य से कम महत्वपूर्ण समझता है। इससे उसका इष्टकार्य बिगड़ता नहीं बल्कि सुधरता है और पीछे से यह साबित होता है कि जो उसकी 'पीछे हट' दिखाई देती थी, वह वास्तव में 'आगे बढ़' थी।

४] :: [सत्याग्रह के प्रसंग

(नीचे लिखे नियमों को सिर्फ दिशा-सूचक ही समझना चाहिए)

१. सत्याग्रही अपने साथ होने वाले निजी अन्याय के लिए झट से सत्याग्रह न कर बैठेगा। आम तौर पर वह ऐसे अन्यायों को सह लेगा; परन्तु सहन करते हुए भी विरोधी

को प्रेम से जीतने की कोशिश करेगा। पर यदि अपने साथ होने वाले उस अन्याय की जड़ में कोई सामाजिक अहित भी हो तो वह साधारणतः सत्याग्रह के द्वारा उसका प्रतीकार करेगा।

२. इसी तरह व्यक्ति-द्वारा होने वाले तथा समाज या सत्ताधारी की ओर से होने वाले अन्यायों में भेद करने की आवश्यकता सत्याग्रही के लिए होती है। इस अपूर्ण मानव-समाज में बलवान् व्यक्ति के द्वारा निर्बल का पीड़न थोड़ा-बहुत होता ही रहेगा। ऐसे हरेक झगड़े में सत्याग्रही का पड़ना संभवनीय नहीं है। ऐसी अवस्था में उसे अपने सामर्थ्य, मर्यादा, अन्याय का प्रकार, उसका तात्कालिक महत्व, न्याय प्राप्त करने के सर्वमान्य और विधि-विहित साधन आदि का विचार करना होगा। इसके बाद जहाँ आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतीत हो वहाँ अपना प्राण देकर भी वह अन्याय को रोकने का प्रयत्न करेगा।

३. समाजिक और राजनैतिक अन्यायों में भी भेद करने की आवश्यकता रहती है। एक अधर्म या अन्याय तो ऐसा होता है कि जिसमें क़ानून तो अधर्म या अन्याययुक्त नहीं होता, परन्तु उसका अमल अधर्म और अन्यायपूर्ण होता है और अन्यायकर्त्ता उसे क़ानून की ओट में छिपाता है, अथवा क़ानून को अपना हथियार बनाता है। इसमें उसे न्याय या धर्म का पाखण्ड करना पड़ता है। इस अपूर्ण मानव-समाज में ऐसी घटनायें भी होती रहेंगी। ज्यों-ज्यों

मानव-समाज में सद्गुणों की ओर परस्पर समभाव की आमतौर पर वृद्धि होगी त्यों-त्यों इस स्थिति में सुधार होगा। ऐसे प्रसंग पर न्याय और धर्म का जो ढोंग करना पड़ता है वह मानो उस अन्यायकर्त्ता की ओर से सत्य को चढ़ाई श्रद्धाञ्जलि है—ऐसा मान कर सन्तोष करना पड़ता है। फिर भी यदि ऐसा पाखण्ड चारों ओर फैल जाय तो उसके लिए सत्याग्रह की आवश्यकता हो जाती है और उसका रास्ता भी निकल आता है। जैसे कि जहाँ सर्वत्र दमन का जोर हो वहाँ अपना बचाव न करना और उसके बदले जो सजा मिले उसे भुगत लेना, यह स्वतंत्र रूप से, सत्याग्रह की एक विधि हो सकती है।

परन्तु जो अन्याय या अधर्म बिल्कुल नग्नता से—इस भाव से कि तुम से जो कुछ हो सके करलो—होता हो, अथवा उसी को न्याय, धर्म या क़ानून का नाम दिया जाता हो, तो ऐसी दशा में सत्याग्रह कर्त्तव्य-रूप हो जाता है। क्योंकि ऐसे अधर्म और अन्याय को सहन कर लेने से सत्याग्रही की सत्वहानि होती है।

५] सत्याग्रह के प्रकार

सत्याग्रह कितने प्रकार का हो सकता है, यह गिनकर नहीं बताया जा सकता। अधर्म का स्वरूप, उसकी तीव्रता, सत्याग्रही व्यक्ति या समाज की ख़ासियतें, उसका और

अपना संबंध, अपने तथा जिसका पक्ष हमने लिया है उसके जीवन में से उस अधर्म को मिटा डालने के लिए प्राप्त सिद्धि—इन सब बातों पर सत्याग्रह की पद्धति, प्रकार और मात्रा का आधार रहता है।

२. फिर भी साधारणतः यह कहा जा सकता है कि अपने कुटुम्ब में अन्याय-कर्त्ता के साथ जिन-जिन पद्धतियों का अवलंबन किया जाता है वे सब उचित रूप में समाज पर भी लागू पड़ती हैं।

३. इस प्रकार इसमें, समझाने-बुझाने से लेकर, उपवास, असहयोग, सविनय-भंग, उस कुटुम्ब, राज्य, समाज आदि का त्याग, अपने न्याय्य अधिकार का शान्ति के साथ अमल, और ये सब करते हुए जो कुछ संकट आ जावें उन्हें प्रसन्नता से सहन करना—आदि अनेक प्रकार हो जाते हैं।

४. इनमें से उचित उपाय और उसकी उचित मात्रा के चुनाव में विवेक या तारतम्य बुद्धि से काम लेना चाहिए। यों तो यह अनुभव से ही आ सकता है; फिर भी कितनी ही उपयोगी सूचनायें अगले प्रकरणों में दे दी जाती हैं।

६] : : [समझाना-बुझाना

१. विरोधी को समझा-बुझाकर सामोपचार से काम लेने का प्रयत्न करना सत्याग्रही का पहला लक्षण और सत्याग्रह की पहली सीढ़ी है।

२. इसलिए समझाने-बुझाने के एक भी उपाय को वह बाक़ी न रक्खेगा। इसमें अपने धीरज और उदारता की परकाष्ठा कर देगा। जो मित्र बीच में पड़ कर मध्यस्थता करेंगे उनकी वह अवहेलना न करेगा; और यदि सिद्धान्त का भंग न होता हो तो वह आगे-पीछे हटने के लिए तैयार रहेगा।

३. समझाने-बुझाने का यत्न जब असफल हो जाय और कोई विशेष उपाय करने की आवश्यता हो तो वह विरोधी को अन्तिम चेतावनी दिये बिना आगे न बढ़ेगा।

४. आगे क़दम बढ़ा चुकने पर भी वह समझौते के लिए सदा तैयार रहेगा और, धोखा खा जाने की जोखिम उठाकर भी, वह अपनी समझौता-प्रियता का परिचय देगा और फिर से 'हरिः ॐ' करने की तैयारी दिखावेगा। क्योंकि सत्याग्रही चाहे कितना ही विरोधी बन जाय, घोर युद्ध कर रहा हो, फिर भी वह अपने रग-रग में व्याप्त सहयोग, मित्रता और सुलह की इच्छा को नष्ट न होने देगा।

५. जबतक विरोधी के अन्तर में ऐसी आवाज न उठे जिससे उसका हृदय-परिवर्तन हो जाय, तबतक, कुछ अन्यायों के दूर हो जाने पर भी, यह नहीं कह सकते कि दिल साफ़ हो गया और सत्याग्रह का कार्य पूरा हो गया।

६. इस कारण, इस स्थिति से पहले जितने कुछ समझौते हों उनमें सत्याग्रही को अपनी कुछ बातें छोड़ देनी पड़ती हैं, और कुछ अन्याय पी जाने पड़ते हैं। पर सच पूछिए तो,

ऐसा करते हुए सत्याग्रही, मूल अन्याय के विषय को छोड़े बिना, उसे दूर कराते हुए, विरोधी की ओर से होने वाले अन्यायों के प्रति अपनी उदारता दिखाता है।

७] : : [उपवास

१ उपवास का उपयोग सत्याग्रह के साधन के तौर पर करने में अक्सर बहुत जल्दी और भूलें हो जाती है।

२ किसी व्यक्ति के प्रति किये गये सत्याग्रह में उपवास जिस अंश तक किया जा सकता है उस अंश तक समाज अथवा तंत्र के प्रति नहीं।

३ व्यक्ति के प्रति भी उपवास-रूपी सत्याग्रह बहुत विवश होने पर ही करना चाहिए। संभव है कि उपवास के विरोधी की न्याय या धर्म-भावना ही जाग्रत न हो। बल्कि महज कृपा-भाव जगे अर्थात् वह यह ख़याल कर के कि 'चलो पिण्ड छुड़ाओ, कौन आफ़त मोल ले' वह सत्याग्रही कि 'जिद' पूरी कर दे। पर इसे सत्याग्रह नहीं कह सकते।

४ व्यक्ति के प्रति किये गये सत्याग्रह में, यदि उसके साथ कोई निजी अथवा मित्रता का संबंध न हो, तो उपवास के उपाय से काम लेना उचित नहीं है।

५ आम तौर पर यह कह सकते हैं कि उपवास-रूपी सत्याग्रह कुटुम्बी, निजी मित्र, गुरु, शिष्य, गुरुभाई आदि निजी परिचित लोगों के प्रति ही किया जा सकता है। इसी

प्रकार यदि समाज हमारा हो, और हमसे उसकी सेवाएँ हुई हों और इससे हम उसके आदर-पात्र होगये हों, तो उसके अन्याय के प्रति भी उपवास-रूपी सत्याग्रह किया जा सकता है।

६ व्यक्ति के प्रति सत्याग्रह में, निजी अन्याय के कारण तो, कभी उपवास न करना चाहिए। वह व्यक्ति यदि हमारे साथ मित्रता का दावा रखता हो, और किसी तीसरे व्यक्ति या वर्ग के प्रति कोई अनुचित व्यवहार उससे होता हो तो, दूसरे उपायों का अवलंबन कर चुकने के बाद, उपवास किया जा सकता है।

७ किसी तंत्र के प्रति किये गये सत्याग्रह में उपवास अन्तिम शस्त्र है। जब सत्याग्रही पराधीन स्थिति में हो, और सत्याग्रह के दूसरे उपायों का रास्ता बंद हो, अथवा तंत्र-द्वारा होने वाला अन्याय इतना कष्टकर हो कि उस अधर्म या अन्याय को सहन करके जीना सत्वहीन या कायर बन कर जीने जैसा हो तब प्राण छोड़ देने की तैयारी से वह अनशन शुरू कर सकता है।

८ इस बात का निर्णय करने में कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है या नहीं, उसे उचित है कि वह बहुत भावुकता से काम न ले। बल्कि उस तंत्र के संचालकों की कठिनाइयों का, उनकी पुरानी आदतों का, भी उचित विचार करे और उनके लिए काफ़ी गुंजायश रक्खे। फिर अनिवार्य और आकस्मिक अन्याय और जान-बूझकर किये गये अन्याय अथवा

अन्याययुक्त नियमों में भी वह भेद करे। फिर इसमें भी निजी अन्यायों को वह दिल कड़ा करके सहन कर लेगा। क्योंकि मनुष्य जब जान-बूझ कर अन्याय को सहन करता है तब उसकी सत्वहानि नहीं होती। परन्तु जब दीनता, भय अथवा जीवन के लोभ से वह अन्याय को सहता है तभी उसकी सत्वहानि होती है।

९ सत्याग्रह-शस्त्र का अवलंबन संघ बल पर नहीं है—हॉं, संघ-बल उसकी शक्ति को बढ़ा अवश्य सकता है। परन्तु उपवास-रूपी सत्याग्रह कभी संघ-बल के भरोसे न कर बैठना चाहिए। दो या अधिक आदमी मिल कर यदि उपवास ठान लें तो इसे सत्याग्रह नहीं कह सकते, बल्कि हठधर्मी कहते हैं।

१० अपने, मित्रों के अथवा साथियों के दोपों के प्रायश्चित्त के रूप में, अथवा मित्र या साथियों को उनकी शुद्ध प्रतिज्ञा पर दृढ़ रखने के लिए, उपवास करना इस प्रकरण के अर्थ में सत्याग्रह नहीं, बल्कि तपश्चर्या है। विवेक-पूर्वक की गई ऐसी तपश्चर्या के लिए जीवन में स्थान है। परन्तु उसकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है।

८] : : [असहयोग

१ जहाँ पहले दोनों पक्षों में सहयोग होता चला आया हो वहीं असहयोग रूपी सत्याग्रह आजमाया जा सकता है।

२. इसमें जहाँ विपक्षी का काम असहयोगी की सहायता के बिना भी चल सकता है वहाँ असहयोग का अर्थ सिर्फ दूसरे पक्ष का त्याग अथवा अपनी शुद्धि इतना ही हो सकता है। इसके लिए भी सत्याग्रह में जगह है। जैसे कि मालिक को दूसरे नौकर मिल सकते हैं, फिर भी जो नौकर उसके अधर्म में हाथ बटाने की इच्छा न रखता हो वह अपना इस्तीफा दे दे अथवा दूसरे लोग शराब की दूकान चलाने को तैयार बैठे हों फिर भी कोई शराब का दूकानदार अपना पेशा छोड़ दे, तो यह पूर्वोक्त प्रकार का असहयोग हुआ। इस प्रकार जो कुटुम्बी, मित्र इत्यादि हठ करके अधर्म करते हों उनका त्याग भी ऐसा ही सत्याग्रह है।

३. जहाँ ऐसी स्थिति हो कि हमारी मदद के बिना दूसरे पक्ष का व्यवहार चल ही नहीं सकता वहाँ असहयोग को बहुत उग्र सत्याग्रह कहना चाहिए। इस कारण, उसे आरंभ करने के पहले, सत्याग्रही को देख लेना चाहिए कि स्पष्ट रूप से यह मेरा धर्म हो गया है या नहीं। इसमें सत्याग्रही इस बात को कभी नहीं भूलता कि विपक्षी का काम मेरे बिना नहीं चल सकता है और इस वस्तुस्थिति में उसे अपना बल दिखाई देता है। इस कारण यह आशंका रहती है कि इसका उपयोग विपक्षी को सताने के लिए भी किया जाय।

४. जब यह प्रतीत हो कि विपक्षी तो हमारे सहयोग का बिल्कुल दुरुपयोग ही कर रहा है और उसके द्वारा निर्दोषों

को पीड़ा पहुँच रही है, तभी ऐसा असहयोग उचित और आवश्यक समझा जा सकता है।

५. असहयोगी विरोधी के उन तमाम कामों में से अपनी सहायता हटा लेगा जो उसकी प्रत्यक्ष सहायता के बिना नहीं चल सकते। जहाँ प्रत्यक्ष सहायता न मिलती हो, परन्तु ऐसी स्थिति हो कि जिससे विरोधी को महत्व मिलता हो, अथवा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती हो तो ऐसी सहायता भी वह हटा लेगा और इसलिए उससे होने वाले लाभों को भी वह छोड़ देगा।

६. विरोधी अपना तंत्र सत्याग्रही पक्ष की सहायता के बिना नहीं चला सकता, ऐसा अनुभव कराना असहयोग का लक्ष्य है। इसलिए यह असहयोग—निश्चय ही सत्य-अहिंसादि साधनों के द्वारा—इतना तीव्र किया जा सकता है कि जिससे वह तंत्र बन्द पड़ जाय।

७. यह तो अनुभव से ही जाना जा सकता है कि इस असहयोग का आचरण किस क्रम से और कितनी तीव्रता से करना चाहिए। परन्तु असहयोगी को यह प्रतीति अवश्य हो जानी चाहिए कि विरोधी का कृत्य अथवा तंत्र इतना पुष्ट है कि उसकी जगह दूसरा तंत्र जल्दी न खड़ा किया जा सके तो भी मौजूदा तंत्र का उच्छेद कर देना अधिक वांछनीय है।

८. असहयोग के दुरुपयोग होने की बहुत सम्भावना है—इसलिए सत्याग्रही और अ-सत्याग्रही असहयोग में चिन्ता-

पूर्वक भेद करने को आवश्यकता है। सत्याग्रह में तो कष्ट अवश्य ही सहन करना पड़ता है। इसलिए, यदि असहयोग करने वाले को कुछ भी कष्ट या हानि न सहनी पड़ती हो तो उस असहयोग के सत्याग्रही न होने की बहुत सम्भावना है।

६] :: [सविनय भंग

१. सविनय-भंग दो तरह का हो सकता है—किसी खास अन्याय-युक्त हुक्म या क़ानून का। और आम तौर पर सब क़ानूनों का। दूसरे प्रकार का सविनय-भंग सिर्फ पहले प्रकार के हुक्म या क़ानून को रद कराने के लिए ही असहयोग के एक विशेष अस्त्र के रूप में किया जा सकता है। और सो भी उस दशा में जब कि उसके द्वारा अन्याय या अधर्म न होता हो, अथवा निर्दोष या तटस्थ लोगों को किसी प्रकार की अनुचित असुविधा न हो।

२. मनुष्य जो चोरी नहीं करता है सो इसी विचार से नहीं कि राज्य ने चोरी की मनाई की है बल्कि यह समझ कर कि वह अधर्म है। इस कारण सविनय-भंग में ऐसे क़ानून नहीं तोड़े जा सकते।

३. गाड़ी ग़लत रास्ते से न ले जाना चाहिए, रास्तों पर तैनात पुलिस की आज्ञा मानना चाहिए, रात को देर तक शोर-गुल न मचाना चाहिए, इत्यादि हुक्मों को न मानने से

निर्दोष तथा तटस्थ लोगों को अनुचित असुविधा होती है, इसलिए ऐसे हुक्मों का भी भंग न कर बैठना चाहिए।

४. परन्तु यदि कोई राज्य के प्रति असन्तोष न प्रकट करता हो तो इसके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) राज्य के प्रति उसके मनमें सन्तोष हो, और, इस कारण, उसके प्रति उसकी भक्ति हो, अथवा, (२) कानून से डर कर। परन्तु सत्याग्रही कानून से डर कर सरकार के प्रति असन्तोष प्रदर्शित करने में नहीं हिचकेगा, और जहाँ सविनय भंग की आवश्यकता उपस्थित हो जाय वहाँ ऐसे क़ानूनों का तोड़ना उसका कर्त्तव्य हो सकता है।

५. उसी प्रकार एक मर्यादा में रहकर, अपने देश के किसी भी हिस्से में जाने और रहने का तथा शान्तिपूर्ण जलूस, सभा, मेले, जन-सेवा के कार्य, अनुचित कार्यों पर धरना देना आदि करने और कराने का जनता को आम तौर पर अधिकार होता है; इन हकों पर यदि सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लगाया जाय तो सत्याग्रही उस आज्ञा को तभी मान सकता है जब (१) सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के कारण उसे वाजिब मालूम हो अथवा (२) ऐसे हुक्म को तोड़ने से, सरकार और लोगों के असली झगड़े के मूल विषय एक ओर से रह जाते हों और दूसरे छोटे और अनावश्यक विषय महत्व प्राप्त कर लेते हों एवं जनता का ध्यान असली विषय की तरफ से हट जावे और इन छोटी-छोटी बातों पर ही जम जाने की संभावना हो। जहाँ ऐसे

कारण न हों वहाँ ऐसे हुक्मों का सविनय-भंग—रूपी सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. इसी तरह सत्याग्रही सरकार को जो कर देता है सो इसी लिए कि वह उस राज्य को कायम रखना इष्ट समझता है। परन्तु यदि उसे यह निश्चय हो जाय कि इस राज्य-तंत्र का नाश करना ही मेरा धर्म है तो वह राज्य को कर देने के क़ानूनों को भी तोड़ सकता है; परन्तु उसके साथ ही राज्य की ओर से मिलने वाले किसी भी लाभ को वह चाह कर प्रयत्न-पूर्वक स्वीकार न करेगा।

७. जहाँ प्रजा-सत्तात्मक शासन-पद्धति हो अथवा सरकार और जनता में सामान्यतः सहयोग प्रचलित हो, अथवा कोई तीव्र संग्राम न हो रहा हो, उस दशा में भी, बाज़-बाज़ अधिकारी, ग़लत-फ़हमी से अथवा हुकूमत के ज़ोर में, अन्यायपूर्ण आज्ञायें निकालते रहते हैं। सो ऐसे फुटकर हुक्मों को हमेशा सविनय-भंग का विषय बनाना उचित नहीं है। यह न मान लेना चाहिए कि ऐसे अन्यायों को पी जाने से हमेशा हानि ही होती है इसके विपरीत ऐसे समय लोग तथा नेतागण जो धीरज और उदारता दिखाते हैं उससे जनता को ख़ासी तालीम मिलती है और इस प्रकार भय से नहीं, परन्तु जान-बूझ कर, जो अन्यायों को सहन करना और आज्ञा का पालन करना जानते हैं वही, प्रसंग आने पर, सविनय-भंग भी अच्छी तरह कर सकते हैं।

८. कभी-कभी सविनय-भंग का आन्दोलन ऐसा स्वरूप ग्रहण

कर लेता है जिससे विरोधी के अथवा तटस्थ लोगों के जानोमाल को हानि पहुँचती है और वे अनुचित रूप से सताये जाते हैं। ऐसी अवस्था में जब सत्याग्रही यह अनुभव करे कि वह इस बुराई को रोकने में असमर्थ है तो आन्दोलन को रोक देगा और अपनी सारी ताक़त उस हानि और परेशानी को रोकने में लगा देगा।

१०] : : [सत्याग्रही की नियमावलि

१. २३—२—३० के 'नवजीवन' में गाँधी जी ने जो 'सत्याग्रही की नियमावलि' दी है उससे इस खण्ड की पूर्ति होगी। वह नियमावलि यहाँ दी जाती है*—

(अ) अदालत में सत्याग्रही का व्यवहार

१. जिस सत्याग्रही ने क़ानून के सविनय-भंग करने का संकल्प कर लिया है उसके फल-स्वरूप मिलने वाली पूरी सजा को भोगने के लिए वह तैयार रहता है।

२. इस कारण जब उसपर यह इल्ज़ाम लगाया जाय कि तुमने फ़लां क़ानून तोड़ा है और राज्य के अधिकारी उसे पकड़ने आवें तब वह बिना आनाकानी के गिरफ्तार हो जाय।

३. यह भी हो सकता है कि सत्याग्रही ने क़ानून बिल्कुल

---

* इसमें अंग्रेज तथा सरकारी हाकिम शब्द आये हैं वे तो प्रसंगोपात्त हैं। वहाँ विरोधी पक्ष अथवा उसके व्यक्ति समझ लेने चाहिए। —लेखक

तोड़ा ही न हो, फिर भी यह दिखाया जाय कि क़ानून तोड़ा है और झूठी गवाहियाँ पेश की जायँ। जहाँ ऐसा हो वहाँ सत्याग्रही को चाहिए कि अदालत के किसी काम में भाग न ले और न अपनी सफ़ाई पेश करे। और चूँकि उसका विचार तो उस क़ानून को तोड़ने का था ही इसलिए बिना तोड़े ही जो सजा उसे मिल रही हो उसका वह स्वागत ही करेगा।

४. यदि उसने स्वयं क़ानून तोड़ा हो तो वह अपना अपराध स्वीकार करले, सज़ा मांगले।

५. सफ़ाई में नीचे लिखी बातें अपवाद-रूप हैं—

(अ) यदि ऐसे अपराध का इलजाम लगाया जाय जो, सत्याग्रह सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण, करना तो दूर, उसका इरादा तक न किया हो, तो सत्य के खातिर वह अपनी सफ़ाई पेश करे—जैसे कि खून करने के इल्जाम में।

(आ) सत्याग्रहियों अथवा अधिकारियों के व्यवहार या नीति के संबंध में कोई ऐसी बात पैदा हो गई हो कि वह सिद्धान्त का या सार्वजनिक महत्व का विषय बन गया हो, और उसमें सत्य प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो—जैसे, इस बात की तहक़ीक़ात करके कि पुलिस ने अत्याचार किया है, सत्याग्रही ने इस बात को प्रकाशित किया हो; परन्तु इस आरोप को झूठा बताकर झूठी बात प्रकाशित करने

का अभियोग उस पर लगाया गया हो तो उस अवस्था में; अथवा, ऐसा आक्षेप किया गया हो कि सत्याग्रही लोगों को मार-काट और ख़ून-ख़राबी को उत्तेजना देते हैं, उसे छापें।

(इ) अधिकारियों ने अति उत्साह से या भ्रम से ऐसे हुक्म निकाले हों जिनकी मंशा सरकार की न रही हो, अथवा जिन क़ानूनों की रू से वे निकाले गये हों वे उतनी सत्ता अधिकारियों को न देते हों, और उनके फल-स्वरूप उन साधारण लोगों के भी बड़ी दिक़्क़त में पड़ने की संभावना हो, जिनका इरादा सत्याग्रह करने का न हो तो वहाँ सफाई पेश करने की आवश्यकता पैदा हो सकती है।

६. सत्याग्रही अदालत के काम में भाग न ले—इसका अर्थ यह नहीं कि वह अदालत के प्रति तुच्छता का वा अविनय का व्यवहार करे अथवा असत्याचरण करे। इसलिए उसे किसी अधिकारी का अपमान न करना चाहिए, उसका उपहास न करना चाहिए, अथवा उसे तुच्छतादर्शक उत्तर न देने चाहिए। फिर वह अपना नाम-ठाम न छिपावे; परन्तु यदि अधिकारी ऐसी बातें पूछे जिनका उस मामले से कोई संबंध नहीं है, अथवा उनका संबंध दूसरे व्यक्तियों से है तो सत्याग्रही उनका उत्तर देने के लिए वाध्य नहीं है और ऐसे जवाव देने से वह विनय-पूर्वक इनकार कर सकता है।

७. जब तक सत्याग्रही पुलिस की हिरासत में हो तब तक

पुलिस का यह फ़र्ज़ है कि उसे नहाने-धोने, खाने-पीने, तथा वकीलों और मित्रों से मिलने की सुविधा दे और उसके प्रति सभ्यता का व्यवहार करे। इसी प्रकार सत्याग्रही का भी कर्त्तव्य है कि वह पुलिस के प्रति शिष्टता रक्खे। यदि पुलिस की ओर से असुविधा, या कष्ट दिया जाता हो अथवा असभ्यता या मारपीट का व्यवहार किया जाय तो सत्याग्रही को चाहिए कि वह इसकी इत्तिला बाला अफ़-सर को (यदि वहाँ तक पहुँच सके) दे और यदि यह संभव न हो, अथवावह ध्यान न दे तो मजिस्ट्रेट से शिकायत करे। यदि मजिस्ट्रेट भी उस पर ग़ौर न करे तो मान लेना चाहिए ये तकलीफ़ें सरकार की प्रेरणा या सम्मति से दी जा रही है और अपने वकील आदि को उसकी सूचना देकर ख़ामोश हो रहना चाहिए। . . ..

८. सत्याग्रही को यदि जुर्माने की सजा दी जाय तो वह जुर्माना न दे, और न किसी को जुर्माने की रक़म जमा करा देने प्रेरणा ही करे, बल्कि यह समझावे कि न जमा कराना उनका धर्म है और उसके एवज में क़ैद की सजा भुगत ले।

९. जुर्माना वसूल करने के लिए उसके घर यदि जब्ती लें जाई जाय तो वह अपना माल-असबाब ज़ब्त हो जाने दे और इस तरह अधिक हानि होती हो तो भी उसे सहले; परन्तु खुद जुरमाना अदा न करे। क्योंकि जिसने अपनी सत्व-रक्षा के लिए क़ानून तोड़ा है वह तो अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहेगा। इस कारण ख़ुद-ब-ख़ुद जुर्माना

अदा करके वह अपनी स्वत्व-हानि न होने देगा।

१०. क़ैदियों के वर्गीकरण के नियमों के अनुसार सत्याग्रही को अपने दरजे के अनुसार वर्ग प्राप्त करने का अधिकार तो है—इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जो वर्ग की सुविधा भोगता है वह सत्याग्रह-तत्त्व का भंग करता है—फिर भी यह वांछनीय है कि सत्याग्रही ऊँचा वर्ग प्राप्त करने का यत्न न करे। क्योंकि इस वर्गीकरण के नियमों के मूल में कुछ अंश तक सत्याग्रहियों और मामूली क़ैदियों में, तथा सत्याग्रहियों में परस्पर, भेद-भाव डालने, ईर्ष्या पैदा करने, तथा भय और लालच देने का भाव है। फिर उसका अमल भी बहुत बार मनमाने तौर पर और नीचे के वर्ग में उतार कर अधिक सज़ा देने के लिए किया जाता है। इस कारण वर्गीकरण की यह नीति ही सदोष है।

(आ) सत्याग्रही का जेल में व्यवहार

१. सत्याग्रही जेल में भी अपनी सभ्यता और विनय को कभी न छोड़े।

२. जेल के नियमों का भंग करने की नहीं, बल्कि पालन करने की वृत्ति से वह, जेल में अपने जीवन की नीति साधारणतः रक्खे। और जहाँ महत्व के सिद्धान्त का या स्वाभिमान का प्रश्न हो वहीं नियम के ख़िलाफ़ जाने की प्रवृत्ति रक्खे। इस कारण वह जेल में कोई वस्तु चोरी से न लावे, किसी को घूस न दे, तथा नियम के बाहर किसी प्रकार की सुविधा प्राप्त करने के लिए किसी की ख़ुशामद

न करे।

३. श्रम करना जेल का ही नियम नहीं, बल्कि कुदरत का धर्म और नियम है। इस कारण जेल के नियम के अनुसार जो काम दिया जाय उसे मंजूर करने में तथा करने में सत्याग्रही कभी जान न छिपावेगा।

४. यदि काम या काम का समय ऐसा हो कि जो अस्वास्थ्य अथवा दूसरे कारण से न किया जा सकता हो तो उसकी ओर अधिकारी का ध्यान विनय-पूर्वक दिलावे। इतने पर भी यदि वही काम दिया जाय तो उसे करने का प्रयत्न करे और ऐसा करते हुए जो-कुछ कष्ट हो उसे सहले।

५. जब डाक्टर शरीर देखे तब अपने सब रोग सच-सच बता देना चाहिए। यदि कोई छूत की बीमारी हो तो उसे छिपाना उचित नहीं है।

६. अपने धर्म या नियम के विपरीत दवा या दूसरा इलाज कराने के लिए क़ैदी बाध्य नहीं है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी दूसरी दवा या इलाज का मतालबा अधिकार-पूर्वक कर सकता है। टीका लगाने जैसे कुछ इलाजों से इनकार करने पर वह दण्ड का पात्र समझा जा सकता है। सो जिस क़ैदी के लिए यह बात सचमुच इतने धार्मिक आग्रह की होगी, वह सजा भुगत लेगा; परन्तु उसकी तैयारी सज़ा भुगत लेनें की है, महज़ इसीलिए वह किसी बात को धार्मिक स्वरूप देकर आग्रही न बने।

७. अपनें अस्वास्थ्य के संबंध में जो कुछ शिकायत हो, अथवा

सुविधा दरकार हो उसकी सूचना योग्य अधिकारी को दे। परन्तु यदि वह कुछ ध्यान न दे तो उसे भी वह यह समझ कर शान्ति के साथ सहन करे कि यह भी सत्याग्रह-संबंधी ही एक कष्ट है। परन्तु लुका-छिपाकर ऐसी सुविधायें प्राप्त करके स्वास्थ्य-रक्षा का प्रयत्न न करे। ऐसा करने से अधिकारी यही समझेगा कि इसकी मांग अनुचित थी।

८. यदि कोई ऐसे व्रत-नियमादि हों, जिनका पालन जेल में भी अवश्य करना चाहिए, तो उनके लिए भी योग्य अधिकारी से कह कर आवश्यक सुविधा मांग सकता है। परन्तु जेल के खर्चे से ही उसके पालन करने का आग्रह न करे। इसलिए यदि अपने खर्चे पर भी ऐसी छूट मिल जाय तो इतने पर उसे सन्तुष्ट रहना चाहिए। और यदि सुविधा न मिले तो व्रत-नियमादि का पालन करने के लिए जो कष्ट भुगतना पड़े, वह भुगत लेना चाहिए।

९. सत्याग्रही को चाहिए कि वह महज जेल-जीवन में पालने के लिए कोई व्रत-नियम आदि न धारण करे।

१०. क़ैदी पर यह फ़र्ज नहीं है कि वह गाली, मार या जूठा, गंदा, कच्चा, सड़ा हुआ या जीव-जन्तु-मिला भोजन खावे। इसलिए उसे ऐसी बातें न सहन करना चाहिए। मारपीट या गाली-संबंधी शिकायत की सुनवाई न हो तो अधिक मार गाली आदि सज़ा की जोखिम उठाकर भी उस काम से इन्कार कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उपवास भी कर सकता है।

११. भोजन यदि न खाने लायक हों तो उससे इन्कार कर दे और उसके लिए जो कुछ सज़ा मिले उसे भुगत ले।

१२. सत्याग्रही अपने या अपने ही वर्ग के क़ैदियों के लिए जेल-व्यवहार में सुधार या सुविधा कराने के लिए सत्याग्रह न करे—हाँ, यदि वह अन्याय सिर्फ उसके या उसके वर्ग के ही साथ किया जाता हो तो बात दूसरी है। परन्तु सत्याग्रह वह उसी अवस्था में करे जब सारी जेल-व्यवस्था में ही सुधार की आवश्यकता हो और उसके लिए आवश्यक कारण और परिस्थिति पैदा हो गई हो।

१३. सत्याग्रही यदि इस प्रकार व्यवहार करे कि जिससे जेल-व्यवस्था अच्छी तरह चल सके तो ऐसा सहयोग सत्याग्रह-सिद्धान्त के विपरीत नहीं है और इसलिए इस प्रकार की जेल-अधिकारियों की सहायता करना सत्याग्रही का धर्म है। परन्तु सत्याग्रही जेल के वार्डर या वॉचमैन आदि पदों को ग्रहण न करे।

१४. छूट के दिन बढ़ाने के लिए सत्याग्रही लालसा न दिखावे।

१५. स्वराज्य के लिए किये गये सत्याग्रह का उद्देश्य है सारी राज्य-व्यवस्था को ही बदल देना। इसलिए सत्याग्रही को जेल में कोई ऐसी लड़ाई न करनी चाहिए जिससे जेल-तंत्र का सुधार लड़ाई का एक स्वतंत्र विषय बन जाय। परन्तु वहीं लड़े जहाँ अक्षम्य अमानुष व्यवहार या नियम देखा जाय।

स्व रा ज्य

१. राम-राज्य
२. तंत्र-सुधार और विधान-सुधार
३. राष्ट्रीय एकता
४. ब्रिटिश राज्य के साथ सम्बन्ध
५. देशी राज्य
६. देश की रक्षा

१. राम-राज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म का राज्य, अथवा न्याय और प्रेम का राज्य।

२. उसमें एक ओर तो अगणित सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणा-जनक फ़ाकेकशी नहीं हो सकती; उसमें कोई भूखा नहीं मर सकता, उसका आधार पशु-बल न होगा; बल्कि लोगों की प्रीति और सहयोग पर, जो कि सोच-समझ कर और बिना डरे दिया होगा, अवलम्बित रहेगा।

३. राम-राज्य में बहुमति या बड़ी जाति, अल्पमति या छोटी जाति को दबाती न होगी; बल्कि अल्पमति को भी बहुमति के ही बराबर स्वतंत्रता होगी और बड़ी जाति अपना फ़र्ज़ समझेगी कि छोटी जातियों के हित की रक्षा करे।

४. राम-राज्य करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिए होगा। उसके विधान में जो मुख्य अधिकारी होगा, वह चाहे राजा कहा जाय वा अध्यक्ष अथवा और कुछ, प्रजा का सच्चा सेवक होने के कारण उस पद पर होगा। प्रजा की प्रीति से वहाँ रहेगा और उसके कल्याण के ही लिए सदा प्रयत्न करता रहेगा। वह लोगों के धन पर आमोद-प्रमोद न करेगा और अधिकार-बल से लोगों को न सतावेगा; परन्तु राजा या उसके जैसा कहलाते हुए भी एक फ़क़ीर की तरह रहेगा।

५. राम-राज्य का अर्थ है कम से कम नियंत्रण। उसमें लोग अपना बहुतेरा व्यवहार आपस में ही मिल-जुलकर अपने आप कर लिया करेंगे। उसमें ऐसी स्थिति प्रायः न होगी कि क़ानून बना-बना करके अधिकारियों द्वारा दण्ड-भय से उनका पालन कराया जाय। उसमें सुधार करने के लिए लोग धारा-सभा या अधिकारियों की राह देखते बैठे न रहेंगे। बल्कि लोगों ने जिन सुधारों को रूढ़ कर दिया होगा उनके अनुकूल धारा सभायें खुद ही ऐसे क़ानूनों में सुधार करने और अधिकारीगण उनका अमल कराने की व्यवस्था करेंगे।

६. राम-राज्य में खेती का धन्धा तरक्की पर होगा; और दूसरे तमाम धन्धे उसके सहारे क़ायम रहेंगे। अन्न और वस्त्र के विषय में लोग स्वाधीन होंगे और गाय-बैल की हालत भी बहुत अच्छी होगी, जिससे आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था होगी।

७. राम-राज्य में सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान-भाव से, मिल-जुलकर, रहेंगे और धार्मिक झगड़े, या क्षुद्र स्पर्धा, अथवा विरोधी स्वार्थ जैसी कोई वस्तु न होगी।

८. रामराज्य में स्त्रियों का दरजा पुरुषों के ही बराबर होगा।

९. रामराज्य में कोई सम्पत्ति या आलस्य के कारण निरुद्यमी न होगा; मिहनत करते हुए भी कोई भूखों न मरेगा; किसी को भी उद्यम के अभाव में मजबूरन आलसी न बनना पड़ेगा।

१०. रामराज्य में आन्तरिक कलह न होगा; और न विदेशों के साथ ही लड़ाई होगी। उसमें दूसरे देशों को लूटने की, जीतने की या व्यापार-धन्धे अथवा नीति को नाश करने वाली राजनीति अस्वीकृत होगी। दूसरे राष्ट्रों के साथ उसका मित्र-भाव होगा।

११. इस कारण राम-राज्य में सैनिक खर्च कम से कम होगा।

१२. राम-राज्य में लोग केवल लिख-पढ़ ही न सकेंगे; बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुए होंगे—अर्थात् उन्हें ऐसी शिक्षा मिलती रहेगी जो मुक्ति देने वाली और मुक्ति में स्थिर रखने वाली हो।

२] : : [तंत्र-सुधार और विधान-सुधार

१. तंत्र-सुधार और विधान-सुधार ये दोनों प्रश्न एक ही नहीं हैं।

२. तंत्र-सुधार का अर्थ है—सत्ताधीशों की प्रजा के प्रति मनोवृत्ति में आमूल सुधार।

३. विधान के सुधार में क़ानून बनाने के लिए, और राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का निरीक्षण करने के लिए, अथवा उसकी नीति निश्चित करने के लिए कितने लोगों के इकट्ठा होने की जरूरत है, उनकी नियुक्ति किस तरह होनी चाहिए, कहाँ बैठ कर उन्हें चर्चा करनी चाहिए, आदि बातों का विचार किया जाता है।

४. आजकल शासन-विधान के प्रश्न को आवश्यकता से अधिक

महत्व दिया जाता है, और इस कारण असली विषयों को भूल कर हम राज्य के वाह्य रंग-रूप के विचार के फेर में पड़े रहते हैं।

५. शासन-विधान की बारीकियों तथा उसकी भिन्न-भिन्न योजनाओं के सूक्ष्म भेदों और उनके महत्व को समझने की आशा देश के करोड़ों लोगों से नहीं रक्खी जा सकती। इसलिए इन विषयों के विचार करने में वे खुद दिलचस्पी नहीं ले सकते।

६. देश के करोड़ों अपढ़ ग्राम-वासियों के लिए इन बातों का महत्व समझना कठिन है कि देश का शासन-विधान राजसत्ताक कहलाता है कि प्रजासत्ताक; साम्राज्य का अंग कहलाता है कि स्वतंत्र, छः हजार प्रतिनिधियों द्वारा राजकाज चलता है कि छः सौ के द्वारा, इसमें हिन्दू अधिक हैं कि मुसलमान; और इन बातों की बहस में पड़ने से उन्हें बहुत लाभ भी नहीं प्रतीत होता।

७. उनके लिए तो महत्व की बात यह है कि उनके गाँव का मुखिया, पटवारी या गिर्दावर उनके पास हुकूमत का जोर चलाते हुए, उन्हें धौंस दिखाते हुए, घूस माँगते हुए आते हैं या उनके मित्र, सलाहकार और संकट के साथी बनकर रहते हैं; वे अपने को जिधर चाहे उधर लोगों को हाँकने वाले, छोटे या बड़े सत्ताधीश समझते हैं या जनता के सेवक मानते हैं?

८. फिर सर्व-साधारण के लिए महत्व का प्रश्न यह है कि

उनके सिर पर क़र्ज़ का बोझ भारी है या हलका है, उनसे कर कितना, किस रूप में और किस तरह वसूल किया जाता है और उसका उपयोग किन-किन बातों में होता है ?

९. ऐसे सुधार महज विधान में परिवर्तन कर देने से नहीं हो जाते; बल्कि जिन पर उसके अमल की जिम्मेवारी आती है उनकी धर्म-बुद्धि और जनता की उस पुरुपार्थ-शक्ति से होते हैं, जिससे वे अपने मत को प्रभावकारी बना सकते हैं। शासन-विधान का बाह्य-स्वरूप चाहे कैसा ही हो, यदि अधिकारी धर्म-बुद्धि और प्रजा-सेवक हों, और प्रजा पुरुपार्थी हो तो सरकार की तरफ से अधिक समय तक अन्याय, जुल्म आदि नहीं रह सकते।

३] :: [राष्ट्रीय एकता

१. जबतक देश की भिन्न-भिन्न जातियों में एकता स्थापित नहीं की जा सकती तबतक स्वराज्य प्राप्त करना और उसे टिका रखना असंभव है।

२. इस एकता को सिद्ध करने के लिए सब जातियों में आजादी के साथ रोटी-बेटी व्यवहार होना ही चाहिए, अथवा उनके भिन्न-भिन्न धर्मों और संस्कृतियों के भेद मिट जाने चाहिएँ, और किसी एक ही धर्म की या धर्म का आधार न रखनेवाली संस्कृति निर्माण होनी चाहिए, यह न तो आवश्यक ही है और न अभीष्ट ही। प्रत्येक जाति को

चाहिए कि वह अपनी-अपनी विशेषता को क़ायम रखकर एकता सिद्ध करे।

३. परन्तु इस एकता को सिद्ध करने के लिए बड़ी जातियों को उचित है कि वे छोटी जातियों को अभय का आश्वासन दें। बड़ी जातियों को चाहिए कि वे छोटी जातियों को इस बात का विश्वास दिलादें कि बड़ी जातियों का रुख और विरुद इस प्रकार का होगा कि उनके धर्म, भाषा, साहित्य, जाति-नियम, रस्म-रिवाज, शिक्षा, अर्थ-प्राप्ति के अवसर आदि विषयों में उन्हें हानि न सहनी पड़े—हाँ, इसमें इस बात का जरूर लिहाज रखना होगा कि ये सार्वजनिक हित के विरोधी न बन जावें।

४. यदि ऐसी स्थिति हो कि बड़ी जाति को छोटी जातियों से डर लगता हो तो या तो (१) बड़ी जाति के जीवन में किसी गहरी बुराई ने घर कर लिया हो और वह कायर बन गई हो; और छोटी जाति में पशु-बल का मद हो (यह पशु-बल राज-सत्ता के बदौलत हो, या स्वतंत्र हो) अथवा (२) बड़ी जाति के द्वारा कोई अन्याय हो रहा हो और होता रहता हो एवं इसके कारण छोटी जाति में निराशा-जनित मरमिटने का भाव आ गया हो। दोनों का उपाय एक ही है—बड़ी जाति सत्याग्रह के सिद्धान्त को अपने जीवन में धारण करे। चाहे कितना ही कष्ट क्यों न भुगतना पड़े उसे सहकर भी वह सत्याग्रह के द्वारा उस अन्याय को दूर करे और

अपनी कायरता को दूर करके छोटी जाति के पशु-बल को सत्याग्रह के द्वारा जीते।

५. जब दो जातियों में झगड़ा खड़ा हो जाय तब सरकार की या क़ानून की सहायता लेना, प्रजा को निर्वीर्य बना देना है। भले ही दोनों जातियाँ एक-दूसरे का खून बहालें और जब खून से तृप्त हो जायँ तब शान्ति धारण करलें; परन्तु एक दूसरे के ख़िलाफ़ शिकायत करने सरकार के पास न दौड़ जायें। यह आदर्श स्थिति तो नहीं है; फिर भी विदेशी सरकार की या भड़ैत लोगों की मदद से 'शान्ति' की रक्षा कराने से तो इसमें दुःख कम है।

६. जबतक छोटी जातियों के मन में बड़ी जातियों की नीयत के बारे में शक है तबतक बड़ी जाति को चाहिए कि वह उन्हें अपनी नेकनीयती का विश्वास दिलावे। अर्थात् जिन शर्तों को स्वीकार कर लेने से उन्हें निर्भयता प्रतीत हो, उनको जितना अधिक हो सके, मान लिया जाय। यही उनको वश में करने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

७. परन्तु हाँ, यह नियम वहीं चरितार्थ हो सकता है जहाँ छोटी जाति बड़ी जाति की अपेक्षा प्रगति में पीछे हो। जहाँ छोटी जाति ही अधिक समृद्ध और बलवान हो वहाँ छोटी जाति बड़ी जाति से अधिक या विशेष अधिकार की मांग नहीं कर सकती।

८. छोटी जाति के पास यदि अधिकार, धन, विद्या, अनुभव इत्यादि का अधिक बल हो और इस कारण बड़ी जाति

उससे डरती हो, तो उसका धर्म है कि वह शुद्ध भाव से बड़ी जाति के हित में अपनी शक्ति का उपयोग करे। सब तरह की शक्तियाँ तभी पुष्ट करने योग्य समझी जा सकती हैं जब उनका उपयोग दूसरे के कल्याण के लिये हो। यदि उनका दुरुपयोग होता हो तो उन्हें विनाश के योग्य समझना चाहिए और आगे-पीछे उनका विनाश हो भी जाता है।

९. सार्वजनिक संस्थाओं में नौकरों, पदाधिकारियों आदि की नियुक्ति में जाति-तत्त्व को प्रचलित करना, उन विभागों की कुशलता को नष्ट करने का तरीका है। इसके लिए तो, जात-पाँत, धर्म इत्यादि किसी बात का विचार न करके, काम की योग्यता का ही लिहाज नियुक्ति के समय होना चाहिए।

१०. ये सिद्धान्त जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख आदि बड़ी-छोटी जातियों पर घटित होते हैं उसी प्रकार धनी-ग़रीब, जमींदार-किसान, मालिक-नौकर, ब्राह्मणेतर इत्यादि छोटे-बड़े वर्गों के संबंधों पर भी घटित होते हैं।

[४] : : [ब्रिटिश राज्य के साथ सम्बन्ध

१. यह ठहराने का अधिकार कि ब्रिटिश-राज्य के साथ भारत का सम्बन्ध किस प्रकार का रहे, भारतीय जनता को । जबतक यह अधिकार न हो तबतक यह नहीं कह सकते

कि स्वराज्य मिल गया।

२. ऐसे अधिकार के सहित यदि ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध जारी रहे तो इससे पूर्ण स्वराज्य में न्यूनता नहीं आसकती; क्योंकि उस स्थिति में भारत को साम्राज्य में समान अधिकार होगा; अर्थात् उसकी विशालता और महत्ता के अनुपात से वह साम्राज्य के दूसरे अंगों पर अपना प्रभाव डालता रहेगा। उस स्थिति में ब्रिटिश-साम्राज्य का मध्यबिन्दु विलायत नहीं, बल्कि दिल्ली होगा। उसका नाम भी 'ब्रिटिश साम्राज्य' न होगा।

३. इस प्रकार यदि भारत का और ब्रिटिश-साम्राज्य के दूसरे अंगों का सम्बन्ध हो जाय और यदि भारत की नीति सत्य और अहिंसा की पोषक रहे, तो ब्रिटिश साम्राज्य आज की तरह जगत् के लिए भय-प्रद न रह जायगा; बल्कि सब राष्ट्रों को अभयप्रदाता हो सकता है।

४. परन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिए तो भारत को बहुत लंबा रास्ता तय करना होगा। उसे अपनी शक्ति और अपनी संस्कृति को पहचान कर उसके प्रति वफ़ादार रहना होगा और उसके लिए अपनी साधना पूरी करनी होगी। जबतक वह निर्बलता और कायरता का आश्रय लेता है तबतक यह असंभव है।

५. यह बात सच है कि ब्रिटिश साम्राज्य आसुरी तंत्र है और उसका नाश ही कर देना उचित है; परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश जाति एक ही वस्तु नहीं है। ब्रिटिशजाति

जगत् की अथवा योरोप की दूसरी जातियों से अधिक दुष्ट या कम गुणवान् नहीं है। इस जाति में कई आदरणीय और अनुकरणीय सद्गुण हैं और यदि उसके और हमारे वर्तमान विषम-सम्बन्ध के कारण हम उनकी क़दर न कर सकें, तो इसे दुर्भाग्य ही कहना होगा।"

६. स्वराज्य में भारत-स्थित अँग्रेज दूसरी छोटी जातियों की तरह रह सकते हैं। वे भारत की दूसरी जातियों की तरह भारतीय बनकर देश की सेवा में अपना हिस्सा ले सकते हैं। और पिछले प्रकरण में बताये सिद्धान्तों के अनुसार देश की दूसरी जातियों से उनका संबंध रहेगा। परन्तु यदि वे परदेशी बनकर ही रहना पसंद करें तो उन्हीं शर्तों के अनुसार यहाँ नौकरी कर सकते हैं जो भारत के अनुकूल होंगी।

१. देशी राज्य आज अपने बल पर खड़े नहीं हैं, बल्कि ब्रिटिश राज्य के बल पर टिके हुए हैं। उन्हें डर लगा रहता है कि यदि ब्रिटिश राज्य न रहा तो उनकी भी हस्ती न रहेगी। इसलिए वे ब्रिटिश राज्य को कायम रखने और ब्रिटिश भारत की प्रजा की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य के प्रति अधिक वफादारी दिखाने की कोशिश करते हैं।

२. परन्तु यह अधिक वफादारी उनकी अधिक गुलामी का चिन्ह है। इसके मूल में शुद्ध भक्ति नहीं, बल्कि भ्रमपूर्ण और गंदा स्वार्थ है।

३. इस कारण देशी-राज्यों की प्रजा दुहेरी गुलामी में है। जिस प्रकार गुलामी-प्रथा में गुलामों का अफसर मालिक से भी अधिक सख्ती दिखाता है, उसी तरह देशी राज्य अपनी प्रजा के प्रति अधिक कठोरता दिखाते हैं।

४. इसका उपाय यही है कि ब्रिटिश भारत पहले स्वराज्य प्राप्त करले। जबतक ब्रिटिश भारत की प्रजा स्वतंत्र न होगी तबतक देशीराज्यों की प्रजा के संकट दूर करने का सामर्थ्य उसमें न आवेगा। ब्रिटिश भारत की प्रजा जब अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र होगी तो उसमें ऐसी शक्ति प्रादुर्भूत होगी, जो देशी राज्यों की आँखें खोल देगी। उस समय देशी

राज्य देखेंगे कि ब्रिटिश बन्दूकों के बल पर अपनी प्रजा को दबाये रख कर थोड़ी सत्ता या आमोद-प्रमोद करने की अपेक्षा निष्ठापूर्वक प्रजा की सेवा करना, उसके सुख-दुःख और दरिद्रता में शरीक होना, प्रीति से उनके हृदय पर अपनी सत्ता जमाना—इसमें उनका भी अधिक श्रेय है।

५. जिन देशी राजाओं की आँखें इस तरह खुल जायँगी वे खुद ही अपने राज्यों में सुधार करने लग जायँगे। जो इतने जड़—गाफिल होंगे कि उस समय भी नहीं चेतेंगे, उनके राज्य, कहने की जरूरत नहीं है कि, नहीं रहने पावेंगे। परन्तु ऐसे जड़ राजा भी आज की तरह मनमानी हरगिज न कर सकेंगे। क्योंकि स्वतंत्र ब्रिटिश भारत का तथा सुधरे हुए देशी राज्यों का एकत्र लोक-मत इतना प्रबल हो जायगा कि दुष्टों को भी अपनी दुष्टता को मर्यादित किये बिना चारा न रहेगा।

६. पुरुषार्थी और स्वतंत्र प्रजा के शिक्षित लोकमत में कितना भारी बल रहता है, उसका अनुभव हमें सामाजिक व्यवहारों में होता है—फिर भी हम उसे भूल गये हैं। जो सत्तायें पशुबल के ऊपर जीवित हैं वे भी तभी तक पशुबल का अवलम्बन कर सकती हैं जब तक लोकमत उसके खिलाफ प्रबल न हो। जहाँ लोकमत का जबरदस्त प्रवाह है वहाँ बड़ी से बड़ी सल्तनत भी झुके बिना नहीं रह सकती।

७. यह लोकमत कितना बलवान् है इसको प्रदर्शित करने वाला और कभी हार न खाने वाला शस्त्र एक ही है—सत्याग्रह।

जो प्रजा, जो राष्ट्र अपने मत के पीछे मर मिटने को तैयार है उसके सामने बड़े-बड़े मुकुट-धारियों को भी झुके बिना गति नहीं है।

१. यह ख़याल ग़लत है कि स्वराज्य में देश की रक्षा करने का बल भारत के पास न होगा।

२. जिस समाज ने अहिंसा-धर्म को समझ लिया है और जो उसका बराबर पालन करता है उसे तो देश-रक्षा के लिए तोप, बन्दूक़, जहाज़ी बेड़े आदि की ज़रूरत न होगी। परन्तु आज तो इस स्थिति की कल्पना ही की जा सकती है।

३. फिर भी भारतवर्ष को, जो कि स्वतन्त्र होगा और पर-राष्ट्रों के साथ मेल-जोल से रहने तथा उनके निर्वाह के साधनों पर आक्रमण न करने की नीति से बरतता होगा, आज की तरह और आज के इतने सैनिक साधनों की और सेना की ज़रूरत न होगी।

४. स्वराज्य में, उचित मर्यादा और बन्धन के अन्दर, हर योग्य आदमी को हथियार रखने की छुट्टी रहेगी। उसे अपना राज्य-व्यवहार चलाते हुए हमेशा दूसरे देशों के आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए वह सिर्फ़ इतनी ही सेना और सैनिक तैयारी रक्खेगा कि जिससे अकल्पित आक्रमण या परिस्थिति के पहले हमले का मुक़ाबला किया जा सके और ज़रूरत पैदा हुई ही तो देश को तेज़ी के साथ तैयार कर लेने की आशा रक्खेगा।

५. हम इस तरह प्रजा को शिक्षा देने का प्रबंध करेंगे कि जिससे देश की बहुतेरी व्यवस्था तो क़ानून और अधिकारियों की राह देखे बिना ही प्रजा सावधान होकर करलेगी और यदि उसमें सफल होगये तो उस स्थिति में देश में ऐसे स्वयंसेवकों के अनेक जत्थे होंगे जिनके जीवन का मुख्य कार्य ही होगा, प्रजा की सेवा करना और उनके लिए अपना बलिदान कर देना। ये जत्थे केवल लड़ाई लड़ने वाले ही न होंगे, बल्कि ऐसे होंगे जो प्रजा को शिक्षा देंगे, उनमें व्यवस्था, व्यवहार और सुखसुविधा को क़ायम रक्खेंगे। देश की आपत्ति के समय पहला वार वे ही सहन करेंगे।

६. स्वराज्य में यदि ऐसी स्थिति हो कि देश की सेना से देश की प्रजा को ही भयभीत रहना पड़े और उन्हीं पर देशी सैनिकों की गोलियाँ चलें, तो वह स्वराज्य या रामराज्य नहीं, बल्कि शैतान-राज्य होगा। सत्याग्रही का धर्म होगा कि वह ऐसे राज्य का भी विरोध करे।

७. देश के सिपाही यदि प्रजा के मित्र हों, प्रजा की आपत्ति के समय उनके लिए प्राण देते हों तभी वे क्षत्रिय हैं; परन्तु यदि वे प्रजा को भयभीत करते हों और शरीर या शस्त्र-बल से उसे पीड़ित करते हों, तो वे लुटेरे हैं। यदि राज्य की ओर से उनको आश्रय मिलता हो तो वह लुटेरों का राज्य है।

वा णि

१. पश्चिम का अर्थ-शास्त्र
२. भारतीय अर्थशास्त्र
३. धनेच्छा
४. व्यापार
५. व्याज-बट्टा
६. मजूरों के प्रश्न
७. स्वाश्रय और श्रम-विभाग
८. स्वदेशी
९. यान्त्रिक साधन

ज्य

१] : : [पश्चिम का अर्थशास्त्र

१. पश्चिम के अर्थशास्त्र की बुनियाद ग़लत दृष्टि-बिन्दुओं पर डाली गई है, इसलिए वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थ-शास्त्र हो गया है।

२. वे ग़लत दृष्टि-बिन्दु इस प्रकार हैं—

(१) उसने भोग-विलास की विविधता और विशेषता को संस्कृति का प्राण माना है।

(२) वह दावा तो करता है ऐसे सिद्धान्तों का जो सब देशों और सब कालों पर घटित होते हों; परन्तु सच बात यह है कि उनका निर्माण योरोप के छोटे, ठंडे और खेती के लिए कम अनुकूल देशों में, घनी बस्ती वाले परन्तु मुट्ठीभर लोगों की, अथवा बहुत थोड़ी आबादी वाले उपजाऊ बड़े खण्डों की परि-स्थिति के अनुभव से हुआ है।

(३) पुस्तकों में भले ही निषेध किया गया हो, फिर भी योजना और व्यवहार में यह मानने और मनवाने की कि (क) व्यक्ति, वर्ग या अधिक हुआ तो अपने ही छोटे से देश के अर्थ-लाभ को प्रधानता देने वाली और उसके हित की पुष्टि करने वाली नीति ही अर्थशास्त्र का अचल शास्त्रीय सिद्धान्त है, और (ख) क़ीमती धातुओं को हद से अधिक प्राधान्य

देने की, पुरानी रट में से वह मुक्त नहीं हो पाया है।

(४) उसकी विचार-श्रेणी में अर्थ और नीति-धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है, इस कारण अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण जीवन के विषयों को गौण समझने की आदत उसने अपने समाज में डाल दी है।

३. इसके फल-स्वरूप—

(१) यह अर्थशास्त्र यंत्रों का, शहरों का तथा (खेती की अपेक्षा से) उद्योगों का अंधपूजक बन गया है।

(२) इसने समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और देशों में समन्वय सिद्ध करने के बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदय के बदले थोड़े लोगों का थोड़े समय के लिए ही लाभ सिद्ध किया है।

(३) पिछड़े हुए समझे जानेवाले देशों में आर्थिक लूट मचाकर, तथा वहाँ के लोगों को दुर्व्यसनों में फँसा कर और उनका नैतिक अधःपात करके समृद्धि का पथ खोजता है।

(४) जिन राष्ट्रों या समाजों ने इस अर्थशास्त्र को अंगीकार किया है उनका जीवन पशु-बल पर ही टिक रहा है।

(५) इसने जिन-जिन वहमों को जन्म दिया है, या बढ़ाया है वे धार्मिक या भूत-प्रेतादिक के नाम से प्रचलित वहमों से कम बलवान् नहीं हैं।

१. भारत की और विशेषताओं को एक ओर रखदें तो भी भारत एक बहुत विशाल देश है। उसकी आव-हवा विविध प्रकार की है। उसमें ज़मीन भी है तो तरह-तरह की; परन्तु हजारों वर्षों से जोती जाने के और जनता की गरीबी के कारण वह कम उपजाऊ हो गई है। उसकी आबादी कुल मनुष्य-जाति का $\frac{1}{5}$ है; वह छोटे-छोटे गाँवों में बँटी हुई है; उसमें अनेक प्रकार की—धर्म, संस्कृति, स्वभाव और रस्म-रिवाजों की—विविधता है, ये स्थूल कारण भी ऐसे हैं जो भारतीय अर्थ-शास्त्र के विचार को पश्चिम की रट में से मुक्त करने की आवश्यकता बताते हैं।

२. भारतीय अर्थशास्त्र के विशेष मुद्दे इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

(१) गाँवों को दृष्टि में रखकर उसका विचार करना चाहिए;

(२) उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट सम्बन्ध होगा; दोनों, साधारणतः, एक ही झोंपड़ी में रहेंगे।

(३) इस अर्थशास्त्र का विचार इस तरह करना होगा जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभाव रखने वाले लोगों में अनुचित हित-विरोध और कलह न पैदा हो।

(४) इस कारण वह क़दम-क़दम पर नीति-धर्म को हमारे सामने रख कर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा।

१. आमतौर पर यह भले ही कहा जाता हो कि मनुष्य-जाति का एक बड़ा भाग आर्थिक स्थिति में और सुख-सुविधाओं में घटा-बढ़ी कराना चाहता है; परन्तु यह कहना और जँचाना कि मनुष्य के धन और सुख की इच्छा की कोई सीमा ही नहीं है, और सभी लखपती, जमींदार या राजा बनने अथवा बँगलों और महलों में रहने के लिए तरस रहे हैं, मानों साधारण मनुष्य को न समझना है, उनके प्रति नीची राय क़ायम करना है और उनके सामने क्षुद्र आदर्श रखना है।

२. जन-साधारण का बड़ा भाग न तो धन को ठोकर ही मारता है और न उसकी अपार तृष्णा ही रखता है। हाँ, वे इतना ज़रूर चाहते हैं कि वर्ष के अन्त में दो पैसे उनके पास बच जायँ—सो भी बीमारी, मौत, शादी-ब्याह, या बुढ़ापे में काम आने के लिए, अथवा त्योहार, यात्रा, दान-धर्म करने के लिए। उसकी इतनी मर्यादा ज़रूर होती है। जिन लोगों में धार्मिक संस्कार प्रबल हैं उनमें धन और सुख की तृष्णा को अमर्याद न होने देने का संस्कार थोड़ा-बहुत काम करता ही रहता है।

३. जिस प्रकार सब राजा सिकंदर या नेपोलियन बनने की, अथवा भर्तृहरि या गोपीचंद होने की महत्वाकांक्षा या उसके लिए पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य नहीं रखते, उसी

प्रकार करोड़ों लोग धनी बनने का अथवा निष्किंचन बनने का हौंसला या हिम्मत नहीं रखते।

४. बात यह है कि प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी बड़ी महत्वाकांक्षायें होती हैं, जिनमें पुरुषार्थ करने का असाधारण सामर्थ्य होता है। इनमें से कुछ तो अकिंचन बनने का आदर्श रखते हैं और कुछ लाखों के स्वामी बनने का।

५. समाज की व्यवस्था और रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रजा की आवश्यक सुख-सुविधा और धनेच्छा को धक्का पहुँचाये बिना, उन्हें पुरुषार्थ करने का उचित अवसर मिले; यही नहीं, बल्कि उसके फल-स्वरूप उनकी महत्वाकांक्षा को पोषण मिले पर वह इस तरह कि अन्त में उससे समाज का लाभ ही हो।

६. यदि समाज-व्यवस्था में ऐसे पुरुषार्थ के लिए अवसर न हो तो उनकी महत्वाकांक्षायें और पुरुषार्थ उन्हें ग़लत रास्ते ले जायँगे और समाज की हानि करेंगे।

७. उद्योग-धन्धे तथा समाज-सेवा के कितने ही कामों में अनेक प्रकार के साहस और जोखिम उठाने पड़ते हैं। उनकी सिद्धि शंकास्पद होती है, और, इसलिए, उनके प्रयोग राज्य-संस्थाओं की अपेक्षा निजी तौर पर करना अधिक अनुकूल और सुविधाजनक होता है। समाज़-रचना इसके अनुकूल होनी चाहिए।

१. व्यापार का मुख्य उद्देश है बड़े उद्योगों का विकास करना और आवश्यक पदार्थ लोगों में पहुँचाना। उसमें अनायास जो बचत रह जाती है उसे मुनाफ़ा कह सकते हैं।

२. अनायास बचत का अर्थ यह है उद्योग-धन्धे में जो-कुछ खर्च-वर्च हो उसे निकालने के उपरांत जो थोड़ी रक़म और जोड़ ली जाती है, इस उद्देश से कि नुक़सान पड़ने की अवस्था में काम आवे, उसकी बचत। यों देखा जाय तो यह बचत बहुत मामूली मालूम होती है, 'किन्तु उद्योग यदि बड़े पैमाने पर होगा तो यह न-कुछ बचत भी बड़ी हो सकती है।

३. परन्तु इस प्रकार जो धन बचेगा वह या तो उद्योग-धन्धों में लगे मजूरों के हित में, या दूसरे उपयोगी उद्योगों के विकास में, या सार्वजनिक हित के बड़े कार्यों में लगाना चाहिए।

४. यदि ऐसे धन का मालिक अपने को उसका रक्षक समझ कर उसी के अनुसार उसका उपयोग करना अपना धर्म समझेगा तो निजी सम्पत्ति का अधिकारी होते हुए भी उससे प्रजा का हित होगा और उससे किसी को ईर्ष्या न होगी।

५. परन्तु यदि वह इसमें से महज़ अपनी स्वार्थ-साधना ही करेगा और धन-सम्पत्ति को बढ़ाने की ही दृष्टि रक्खेगा तो वह अपने को तिरस्कार का पात्र बना देगा और इसके

फल-स्वरूप धनी-ग़रीब में भेद-भाव और कलह उत्पन्न हो जायगा।

६. यदि धनवान् लोग ऐसा व्यवहार रक्खेंगे कि उनके बाग़-बग़ीचे-बंगले, गहने-पत्ते, गाड़ी-घोड़े, ठाट-बाट, बरतन, दरी, ग़लीचे आदि उनके आश्रितों को और कौटुम्बिक लोगों को इस्तेमाल करने के लिए मिल सकें, यदि वे इस बात को अपना कुल-धर्म समझेंगे कि आश्रितों के घर जब कोई प्रसंग आ जाय तब उसे इस तरह पार लगा दें कि जिससे उनका मन प्रफुल्लित हो जाय, और इसके साथ ही यदि ग़रीबों का जीवन कष्टपूर्ण न हो तो धनी लोगों के सोने के बरतन में भोजन करते हुए भी गरीबों को उसकी डाह न होगी; बल्कि अधिकांश लोग तो इतनी झंझटों से बचते रहने की ही चेष्टा करेंगे।

७. जहाँ धनवान् का व्यवहार ऐसा हो वहाँ कह सकते हैं कि वह अपने धन का उपयोग अधिकांश में एक रक्षक के तौर पर करता है। इसमें उसके धन-लोभ का सर्वथा अभाव तो नहीं है, परन्तु यह धन-संग्रह ऐसा है जो प्रजा का द्रोह किये बिना और जब आवश्यकता पड़ जाय तब उपयोगी हो सकता है।

८. यदि ऐसी स्थिति हो तो फिर साम्यवादियों के कहने के अनुसार लोग पूँजी-पतियों का नाश करने के लिए तैयार न होंगे।

९. इसके अलावा यदि धनवान् ख़ुद अपना जीवन सादा और संयमपूर्ण रक्खेगा तो वह धनवान् होते हुए भी प्रजा के लिए पूज्य हो जायगा।

१. थोड़े ब्याज पर रुपया लेकर अधिक ब्याज पर देने का नाम ब्याज-बट्टा है; परन्तु यह ब्याज-बट्टे का व्यापार ऐसा नहीं है जो समाज-हित के लिए अनिवार्य हो।

२. आज जिस प्रकार का ब्याज-बट्टा या लेन-देन देश में चल रहा है वह या तो विदेशी व्यापारियों की दलाली या आढ़त का धन्धा है अथवा किसानों तथा दूसरे पेशेवालों की जमीन और माल-मिल्कियत, अथवा इससे भी आगे बढ़ें तो, पर-राज्यों को धीमे-धीमे हजम कर जाने की अप्रामाणिक युक्तियाँ हैं। योरप, अमेरिका जैसे देशों में अधिक ब्याज के लोभ ने अपने देश के ग़रीबों के हित की उपेक्षा करके विदेशों में रुपया लगाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इससे धनी देशों में भी कष्ट और अशान्ति पाये जाते हैं।

३. यह खयाल कि व्यापार-धन्धे में झूठ बोलना बुरा नहीं है, भयंकर अधर्म-मय है।

४. अपढ़, भोले-भाले और विश्वासशील लोगों को, अथवा विलास-लिप्त धनी-मानियों या राजा-रईसों को दुर्व्यय और और दुर्व्यसनों के लिए क़र्ज देने और क़र्ज लेने के लिए ललचाना, देन-लेन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे वही-खाते और दस्तावेज रखना या बना लेना, यह साहुकारी नहीं, बल्कि ज्वलन्त पाप और हिंसा है।

५. ऐसे अधर्म्य ब्याज-बट्टे के व्यापार से अर्थ नहीं, बल्कि

अनर्थ की वृद्धि हुई है।

६. मनुष्य के पास यदि कुछ पूँजी बचत में रहे तो उसे चाहिए कि वह उसे किसी उद्योग-धन्धे की सहायता में लगावे। सबसे पहले तो वह स्वदेश में ही लगनी चाहिए। यदि उद्योग-धन्धों में लगाते हुए भी बच रहे तो स्वदेश के सार्वजनिक हित के कामों में उसका उपयोग होना चाहिए। यह विचार हमेशा ही ठीक नहीं है कि पूँजी को कायम रख कर सिर्फ व्याज ही जन-हित के कार्यों में लगाना चाहिए। इस विचार के कारण पूँजी का अधिक से अधिक उपयोग करने के एवज में अधिक से अधिक व्याज पैदा करने की वृत्ति पैदा हुई है।

७. व्याज पर रुपया उधार लेकर कौटुम्बिक काम करने की मनाई होनी चाहिए। सामाजिक रस्म-रिवाजों में इस तरह परिवर्तन हो जाना चाहिए कि जिससे वे थोड़े-से-थोड़े खर्च में हो सकें। इतना हो जाने पर भी बीमारी अथवा किसी दूसरी आपत्तियों के या विवाहादि के अवसर पर यदि नकद रुपयों की जरूरत पड़ जाय तो यह सहायता समाज में से मित्रता के नाते बिना व्याज के मिलनी चाहिए। गृह अथवा कौटुम्बिक कार्यों के लिए यदि दूकानदार माल अथवा रुपया उधार दे, तो उस पर व्याज लेना गैरकानूनी समझा जाना चाहिए।

८. आजकल तो ऐसे कर्ज पर बहुत व्याज मिल सकता है, और इससे ऋण-दाताओं को अपने आसामियों को

व्यसनों में और फ़जूलखर्ची में प्रेरित करने का प्रलोभन रहता है।

९. दूसरी ओर, मीयाद के तथा नादारी-नादिहन्दी के कानूनों ने तो लोगों की नैतिक भावना नष्ट करने में ज़बरदस्त हिस्सा लिया है। इनकी बदौलत दिवाला निकाल देना, सटोरियापन, और न देने की नीयत रखते हुए कर्ज लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

१०. इस तरह आसामी और साहूकार का सम्बन्ध चूहे-बिल्ली जैसा, अथवा एक-दूसरे को ठगने की कोशिश करने वाले शत्रुओं का सा हो गया है। पुश्तों से चला आया सम्बन्ध, जो एक-दूसरे का हित चाहता था, जिसमें साहूकार आसामी के उद्योग-धन्धों में सहायता पहुँचाने की नीयत और इच्छा रखता था और आसामी अपने पुरखों का वाजिब कर्ज अदा करना अपनी कुल-मर्यादा समझता था; नहीं रह गया है।

११. जो हालत आसामी और साहूकार की हुई वही नौकर और मालिक की हो गई है।

६] :: [मजूरों के प्रश्न

१. जीवन-सम्बन्धी ग़लत दृष्टिकोण ने मजदूरों के प्रश्न को बहुत उलझन में डाल दिया है।

२. वे ग़लत दृष्टि-बिन्दु इस प्रकार हैं—

(क) मनुष्य फ़ुरसत को ही चाहता है और काम को बेगार समझता है।

(ख) मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए फ़ुरसत की ही आवश्यकता है, शारीरिक श्रम उसका विरोधी है।

(ग) कम से कम काम करके अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना श्रम-विभाग का ध्येय है।

(घ) मालिक और मज़दूर के स्वार्थ एक-दूसरे के विपरीत हैं।

३. इन कारणों से मजदूरों के सामने नीचे लिखे ग़लत आदर्श रखने का प्रयत्न किया जाता है—

(क) यन्त्रों में खूब सुधार करके, दो-चार घण्टे के श्रम से जीवन की आवश्यकतायें निर्माण करना;

(ख) पूँजीपतियों का नाश करना।

४. सम्भव है कि ये आदर्श सिद्ध हो जायें; परन्तु यह नहीं कह सकते कि इनसे मानव-जाति को सुख ही मिलेगा।

५. वास्तव में तो मजूरों के, या यों कहिए कि, करोड़ों के सुखों के लिए निम्न-लिखित दृष्टि से विचार करना चाहिए—

(क) मनुष्य को बाह्य साधनों के अधीन इतना अधिक न कर देना चाहिए कि जिससे उनकी श्रम करने की स्वाभाविक शक्ति का ह्रास हो जाय और वह श्रम से जीविका अर्जन करने के अयोग्य बन जाय।

(ख) इसलिए मनुष्य की शारीरिक श्रम करने की शक्ति बढ़नी चाहिए; और मजदूरों के काम के घण्टे उनके

खान-पान घर-बार आदि की सुविधा एवं उनकी शक्ति की रक्षा और वृद्धि की दृष्टि से नियत करने चाहिए।

(ग) अत्यन्त सूक्ष्म श्रम-विभाग करके मजूर को जड़ यन्त्र की तरह बनाकर २-४ घण्टे नीरस यान्त्रिक क्रिया में उसे जोतना, और फिर मौज-शौक, आमोद प्रमोद के लिए उसे छुट्टी देने—आजाद कर देने से मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं होगा परन्तु उद्योग-धन्धों की रचना इस तरह करनी चाहिए कि जिससे काम करने में ही उसे आनन्द आवे, काम ही उसके लिए आमोद-प्रमोद हो जाय और उसीके द्वारा वह अपना आध्यात्मिक विकास भी कर सके।

(घ) इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य को उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त दूसरे कामों की आवश्यकता ही नहीं है, या उनके लिए अवकाश की जरूरत नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह निर्दोष आमोद-प्रमोद का कुछ भाव रक्खे और उसके लिए अवकाश मिलना भी उचित है; परन्तु वह गौण-रूप से होना चाहिए। अभी तक ऐसी संस्कारिता का तो प्रसार हुआ नहीं है कि जिससे मानव-समाज का एक बड़ा भाग फ़ुरसत का समय उचित रीति से बिता सके। इसलिए आज तो अधिकांश लोग फ़ुरसत का समय, नींद, व्यसन और दोषमय भोग-विलास में बितावेंगे, ऐसा भय है।

(च) मनुष्य को अपनी गुजर के लिए जो कठिन श्रम करना पड़ता है यह कुदरत का कोप नहीं बल्कि अनुग्रह है। इसलिए ध्येय तो यह होना चाहिए कि ऐसा श्रम करने का सामर्थ्य बढ़े, न कि कम हो जाय।

(छ) मालिक मजदूरों का व्यवस्थापक बनकर यदि उन्हें शक्तिभर ही काम दे और पूरा मेहनताना तथा सुख-सुविधा करदे एवं मजूर मालिक के काम को अपना समझ कर मन लगाकर मिहनत करे—तो इसमें दोनों का हित है, और बढ़ता है।

(ज) इसके लिए निजी पूँजी का होना-न-होना प्रश्न बहुत महत्व नहीं रखता है; परन्तु उद्योग और वाणिज्य का ध्येय बदलने की जरूरत ज़रूर है।

(झ) उद्योग का ध्येय यह नहीं है कि व्यापार बढ़ाने के लिए नई-नई ज़रूरियात खड़ी की जायँ, बल्कि यह है कि मौजूदा हाजतों और जरूरियात के लिए अच्छे से अच्छा प्रबन्ध किया जाय। व्यापार का भी प्रयोजन इतना ही है। फिर भी संभव है, कितनी ही नई आवश्यकतायें पैदा होती रहें। परन्तु यदि इस ध्येय पर से ध्यान न हटाया जाय तो वाणिज्य पिछड़ी जातियों की हाजतें बढ़ाने के लालच में न पड़ेगा और उन्हें चूसने की नीति मंजूर न करेगा। ऐसा होने से मजूर और मालिक अन्योन्याश्रित

होकर रहेंगे।

(ट) यदि ऐसा ध्येय न रहेगा तो पूँजीपति व्यक्ति के बदले जड़ तंत्र मालिक बन बैठेगा अथवा एक समाज मालिक और दूसरा मजूर बनेगा और इससे मनुष्य का सुख बढ़ नहीं सकेगा।

७] :: [स्वाश्रय और श्रम-विभाग

१. स्वाश्रय का अर्थ श्रम-विभाग का विरोध नहीं और न दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध का अभाव ही है। यह संभव ही नहीं है कि समाज में रहने वाले लोग पूर्ण-रूप से स्वाश्रयी हो सकें अर्थात् अपनी सब आवश्यकतायें अपने ही श्रम से पूरी कर सकें। ऐसे प्रयत्न का परिणाम मिथ्या अहंकार की वृद्धि और व्यर्थ उद्योग हो सकता है। जो यह आदर्श रखता है कि सारे जगत् के साथ प्रेम और अहिंसा के द्वारा एक-रूप हो जायँ वह स्वयं पर्याप्त (Self-Sufficient) होने का मिथ्या मोह न रक्खेगा।

२. फिर भी अपनी जितनी जरूरतें और जितने काम मनुष्य सहज ही खुद पूरा कर सकता है और जिसके लिए कुदरती अनुकूलतायें भी हों, तो उनमें स्वाश्रयी रहना अनुचित नहीं, बल्कि उचित ही है। ऐसी बातों में दूसरे से महनत लेनी ही चाहिए और उसके लिए आर्थिक लेन-देन का सम्बन्ध बाँधना ही चाहिए—यह धर्म नहीं है। जैसे—

यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि कपड़े धोबी से ही धुलाये जायँ, पाखाना भंगी से ही साफ़ कराया जाय, बाल नाई से ही बनवाये जायँ, या खाना होटल में ही जाकर खाया जाय।

३. यही नियम देश और समाज के व्यवहारों पर भी घटित होता है। हिन्दुस्तान जैसा देश, जिसमें काफ़ी अनाज और रुई पैदा होती है, अन्न और वस्त्र के मामले में स्वाश्रयी बन जाय तो यह नहीं कह सकते कि वह स्वपर्याप्त बनने का हौंसला रखता है या दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध रखना नहीं चाहता।

४. इसी तरह जिन-जिन उद्योगों के विकास के लिए भारतवर्ष में प्राकृतिक अनुकूलतायें हैं उनके विकास की योजना वह करे तो इसमें कोई दोष नहीं है। ऐसी आर्थिक नीति को अपनाये बिना राष्ट्र को सुखी बनाने की आशा रखना फ़जूल है।

५. भारत का अनाज विदेश भेज कर वहाँ से रोटी मँगाकर खाना, यहाँ से तिलहन भेजकर विदेशों से तेल बनवा कर मंगाना, रुई भेज कर कपड़ा मँगवाना इस पद्धति को देशान्तर (अन्तर्राष्ट्रीय) श्रम-विभाग और देशान्तर सहयोग कहना अथवा लंकाशायर जैसे स्थान में लोहे या कोयले की खानें हैं और वहाँ की हवा नम है इसीलिए कहना कि वहाँ कपड़ा बनाने की प्राकृतिक अनुकूलता है, श्रम-विभाग और सहयोग-तत्त्व का दुरुपयोग है।

१. प्रत्येक देश की आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि जहाँ कच्चा माल पैदा हो वहीं उससे पक्का माल तैयार करने के कारखाने होने चाहिएँ। आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से इसी को 'स्वदेशी आन्दोलन' कहते हैं।

२. कच्चा माल यदि विदेश जाय और वहाँ से उसकी तरह-तरह की चीजें बनकर फिर स्वदेश को लौटें, तो ऐसी पद्धति, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक प्रतीत होने पर भी, उसके मूल में, स्वदेश में या विदेश में किसी-न-किसी अन्याय या अधर्म के होने की अथवा हिसाब लगाने में कहीं न कहीं भूल होने की अधिकांश सम्भावना है।

३. इंग्लैण्ड जिसे 'फ्री ट्रेड' अथवा अप्रतिबद्ध व्यापार कहता है, वह, सच पूछा जाय तो वैसा व्यापार नहीं है। क्योंकि वह अपने कल-कारखानों की रक्षा के लिए तथा दूसरे देशों के उद्योग-धन्धों को मटियामेट करने के लिए सिर्फ जकात का ही नहीं, बल्कि सैनिकबल का एवं राजनैतिक सत्ता और कुटिल नीति का भी अवलंबन करता है। स्वदेशी-नीति का यह अधम और अन्यायपूर्ण रूप है।

४. आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी और बहिष्कार में भेद नहीं है। जिस चीज पर करोड़ों लोगों का जीवन अवलम्बित हो वह विदेशों से मँगाई ही नहीं जा सकती अर्थात् उसका बहिष्कार करना ही पड़ेगा। यह बहिष्कार किसी देश-विशेष के साथ न होगा; बल्कि समस्त देशों के साथ होगा—इस

लिए वास्तव में यह 'स्वदेशी' ही कहा जायगा।

५. किसी देश-विशेष के साथ यदि वहिष्कार किया जाय तो वह राजनैतिक दृष्टि से ही हो सकता है—इसलिए उसका विचार इस प्रकरण में करने की आवश्यकता नहीं।

६] :: [यान्त्रिक साधन

१. भारतीय अर्थशास्त्र की दृष्टि मे यान्त्रिक साधनों तथा उनमें आवश्यक सुधारों के दो भाग किये जा सकते हैं—(१) मुख्यतः इस दृष्टि को प्रधान रख कर कि यंत्र और उनमें सुधार ऐसे हों कि जिससे श्रम-कर्ता मनुष्य या पशु को कुछ कम श्रम हो और थोड़ा समय वच जाय—जैसे कि, गिर्री, चक्की, चरखा, साइकिल, सीने की कल, झटका-करघा, गाड़ी इत्यादि तथा उनमें घर्षणादि दोप कम करने के लिए किये गये सुधार; जैसे कि, वाल विअरिंग, पक्की सड़कें, रेल की पटड़ी, इत्यादि और (२) ऐसे यंत्र जो श्रम-कर्त्ता मनुष्य या पशु का स्थान ग्रहण करने के लिए, अर्थात् मज़दूर या पशु की संख्या घटाने के लिए, अथवा मजदूरों की बुद्धि-चातुरी या शरीर-वल का उपयोग करने के बदले उनका केवल जीवित यंत्र के तौर पर इस्तेमाल करने के लिए वनाये जायँ जैसे,—आटे की कल, सूत और कपड़ों की मिल, मोटर, रेलगाड़ी इत्यादि, ट्रेक्टर, पानी के पम्प, सूक्ष्म श्रम-विभाग के फल-स्वरूप वने यंत्र इत्यादि।

२. पहले प्रकार के यान्त्रिक साधन तथा उनके सुधार सामा-

न्यतः इष्ट हैं। इनसे भी मजदूर और पशु की संख्या घट सकती है; परन्तु वह क्रम से कम घटेगी।

३. दूसरे प्रकार के यान्त्रिक साधनों और सुधारों का उपयोग करने में विवेक और सावधानी रखनी चाहिए। अर्थात् ऐसे साधनों और सुधारों का कौन कितना उपयोग करे इसपर प्रजाकीय सरकार का वैसा ही अंकुश रखना चाहिए जैसा कि शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, बनाने तथा इस्तेमाल करने पर होते हैं।

४. दूसरे प्रकार के यन्त्रों का व्यवहार किन दशाओं में बुरा नहीं हो सकता उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) जहाँ काम बहुत और करने वाले थोड़े हों और अधिक आदमी न प्राप्त किये जा सकते हों, न रक्खे जा सकते हों, जैसे कि जहाज पर।

(२) जहाँ आकस्मिक कठिनाई से अथवा दूसरे कारणों से काम का प्रकार ही ऐसा हो कि उसे जल्दी से जल्दी करना पड़ता हो और यदि यान्त्रिक साधनों के एवज में अधिक आदमी इकट्ठा करने लगें तो अव्यवस्था, ढील और जोखम बढ़ने की सम्भावना हो—जैसे, आग बुझाना, अकाल या अन्य प्राकृतिक कोपों से लोगों की रक्षा करना, अथवा अनाज आदि की सहायता पहुँचाना।

(३) ऐसे यंत्र और उनके सुधार जो सहयोगी धंधा दे सकते हों अथवा उसे और अच्छी स्थिति में ला देते

हों, किन्तु फिर भी उसके सहयोगीपन को नष्ट न करते हों, जैसे कि, अधिक सूत देने वाला चरखा, रस्सी वँटने का चक्र, इत्यादि।

(४) पहले प्रकार के कल-पुर्जे बनाने के यन्त्र, औज़ार आदि बनाना, और उनमें खास करके वहाँ जहाँ एक ही माप और एक ही ढंग के यन्त्र अथवा उनके पुर्जे बनाने का महत्व हो;

(५) जहाँ बिलकुल निश्चित काम देने वाले नाज़ुक साधनों की आवश्यकता हो—जैसे कि घड़ी, टाइपराइटर, प्रयोगशाला के साधन आदि के बनाने में;

(६) ऐसी वस्तुओं के बनाने में जिनमें अधिकांश की लोगों को कभी जरूरत न हो परन्तु जिनका उपयोग सार्वजनिक हो; जैसे पानी के नल, मिट्टी के घड़े और काच के घरेलू बरतन इत्यादि।

(७) ख़ानगी साहस से नहीं, बल्कि राज्य की ओर से अथवा उसके नियंत्रण में चलने वाले उद्योगों में—जैसे कि रेलगाड़ी, जहाज, महत्वपूर्ण खानें, मिट्टी के तेल के कुएँ आदि में।

५. जिस दरजे तक दूसरे प्रकार के यांत्रिक साधनों वाले उद्योग-धंधे आवश्यक समझे गये हों उस दरजे तक तत्सम्बन्धी कारखाने भी आवश्यक समझे जा सकते हैं; जैसे कि लोहे, औजार, साँचे, काच, बिजली इत्यादि के अथवा तत्सम्बन्धी साधन बनाने के कारख़ाने।

उद्योग

१. खेती
२. सहयोगी उद्योग
३. विशेष उद्योग
४. हानिकर उद्योग
५. उपयोगी धन्धे
६. ललित कलायें

१] :: [खेती

१. खेती भारतवर्ष के लिए प्राणदायी धन्धा है। इतनी भयंकर लूट के जारी रहते हुए भी भारतवर्ष जो अभी तक जीवित रहा है उसका कारण यही है कि वह भोजन के मामलों में अभी परावलम्बी नहीं बना है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि यह स्वावलंबन भी अब खतरे में नहीं है।

२. भारत की वर्तमान आर्थिक और राजकीय नीति खेती के उद्योग को नष्ट कर रही है। उसके फल-स्वरूप खेती आज मुनाफ़े का धन्धा नहीं रह गई है।

३. ब्रिटिश शासन-तंत्र में कर जमीन पर पहला बोझा है और यह क़ानून द्वारा निश्चित कर दिया गया है। स्वराज्य में इससे उलटा होना चाहिए। अर्थात् खेती की आबादी राज्य पर पहला बोझा होना चाहिए और तमाम कर इस तरह से लगाये और वसूल किये जाने चाहिए कि जिससे खेती को हानि न पहुँचे।

४. स्वराज्य की आर्थिक नीति इस तरह बनाई जानी चाहिए कि जिससे देश के लिए आवश्यक धान्य का संग्रह रहा करे।

५. हिन्दुस्तान में फल के पेड़ों की परवरिश पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। स्वराज्य में इस विषय पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

६. खेती की बेहबूदी के लिए गोचर भूमि की सुविधा भी आवश्यक है। खेती तथा जंगल-विभाग की नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे लोग पशु अच्छी तरह रख सकें और पशुओं के खाने के लिए ख़ास क़िस्म के चारों की खेती भी होनी चाहिए।

२] : : [सहयोगी उद्योग

१. हिन्दुस्थान में खेती बहुतेरे क़ुदरती ख़तरों के अधीन है। उनसे बचने के उपाय करते रहने पर भी बहुतांश में ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी। फिर यह बारहों महीनों का धन्धा नहीं हो सकती। खेती के मौसिम में भी एकसी मेहनत नहीं करनी पड़ती। बीच-बीच में बहुतेरे आदमियों के एकसाथ काम करने की जरूरत पड़ती है और बाक़ी के दिनों में मालिक और उसके घर के लोग बेकार रहते हैं। इस कारण भारत में खेती और उद्योग-धन्धे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। बल्कि खेती के ही साथ कोई-न-कोई सहयोगी धन्धा अवश्य होना चाहिए।

२. उस सहयोगी धन्धे में नीचे लिखी अनुकूलतायें होनी चाहिएँ—

(१) वह मुख्य धन्धे (अर्थात् खेती) के अनुकूल होना चाहिए—ऐसा न होना चाहिए कि उसके लिए खेती को बिगाड़ना पड़े।

(२) इसकारण यह धन्धा ऐसा होना चाहिए कि मुख्य धन्धे के लिए मजदूरी की जरूरत पड़ते ही वह बन्द किया जा सके और फिर भी उससे नुकसान न हो अथवा खासतौर पर ध्यान दिये बिना भी उसका काम चलता रहना चाहिए।

(३) इसके अलावा यह धन्धा नौकरी के सिद्धान्त पर चलनेवाला नहीं, बल्कि स्वतंत्र रूप से मजूरी के सिद्धान्त पर चलने वाला होना चाहिए।

(४) फिर, इसी कारण से, उसमें यन्त्र अथवा माल के लिए इतनी पूँजी की आवश्यकता न होनी चाहिए कि जो निर्धन देश के लोगों के सामर्थ्य के बाहर हो।

(५) ऐसा होना चाहिए जो खेत के नजदीक हो, अर्थात् अपने घर या गाँव में ही किया जा सके।

(६) यदि यह धन्धा करोड़ों के लिए हो तो, ऐसा होना चाहिए कि जिससे उसका माल आसानी से खप सके अर्थात् वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सार्वजनिक आवश्यकता की हो।

(७) उसी तरह, करोड़ों की दृष्टि से, इस धन्धे की व्यवस्था करने के लिए, अपेक्षाकृत तेज़ी से, सरलता से और थोड़े खर्च में शुरू होने वाला होना चाहिए।

(८) फिर, करोड़ों की दृष्टि से, वह ऐसा होना चाहिए जिससे अपढ़, थोड़ी बुद्धि रखने वाले, कमजोर और

छोटे-बड़े सब तरह के मनुष्य उसे कर सकें।

(९) फिर भी वह ऐसा न होना चाहिए कि जिससे, कारखाने की तरह, वह मनुष्य को काम करने में जड़यन्त्र की तरह, आनन्दरहित और रसहीन बनादे और काम करने के बाद थकादे और जी उबादे।

३. इन सहयोगी उद्योगों में चरखा और गो-पालन का प्रधान स्थान है। ये दोनों उद्योग प्राचीन काल से खेती के साथ ही लगे हुए हैं और दीर्घ-कालीन अनुभव की कसौटी पर कसे जा चुके हैं।

४. जिस तरह तार, डाक, रेल अथवा अन्य अखिल भारतीय विभाग समझे जाते हैं उसीतरह चरखे और गो-पालन का महत्व अखिल भारतीय है। यही ऐसे धन्धे हैं जिनमें, बड़े पैमाने पर, अधिक से अधिक लोगों को आसानी और सुविधा से काम दिया जा सकता है।

५. इन दोनों धन्धों का विशेष विचार पृथक् प्रकरणों में होगा, परन्तु गो-पालन की अपेक्षा चरखे का महत्व अधिक है; क्योंकि गो-पालन में तो फिर भी थोड़ी-बहुत जमीन और पूँजी की आवश्यकता रहती है इसलिए यह उन्हीं किसानों का 'सहयोगी धन्धा' बन सकता है जिनके पास निज की जमीन हो; परन्तु उन लाखों लोगों के अनुकूल नहीं है जो केवल खेती की मजूरी पर ही अपनी गुजर करते हों। फिर, गो-पालन खेती से और खेती के अलावा

स्वतंत्र धन्धा भी हो सकता है और चरखा इन दोनों के साथ चल सकता है; उसी तरह गो-पालन और चरखा दोनों एक साथ किसान के सहयोगी धन्धे भी हो सकते हैं।

६. चरखे पर जो इतना जोर दिया गया है उसका आशय यह नहीं है कि उसके अलावा दूसरा कोई सहयोगी धन्धा न होना चाहिए। यदि स्थानिक परिस्थिति अनुकूल हो और चरखे से अधिक आमदनी देने वाला सहयोगी धन्धा वहाँ चल सकता हो तो चरखे के साथ अथवा अलावा उसके लिए भी जगह है; स्थानिक राजतंत्र या प्रजातंत्र का कर्त्तव्य है कि उस पर ध्यान दे और उसका विकास करे।

३] : : [विशेष उद्योग

१. समाज का निर्वाह, समृद्धि और उन्नति अच्छी तरह हो, इसके लिए खेती और वस्त्र के धन्धों के उपरान्त दूसरे भी अनेक धन्धों की जरूरत रहती है। जैसे कि धातु, कोयला, मिट्टी का तेल इत्यादि खानों तथा नमक, मछली इत्यादि सामुद्रिक तथा लकड़ी, लाख, रबर, वनस्पति इत्यादि जंगली पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले।

२. यद्यपि ये धन्धे जीवन-निर्वाह के लिए उतने अनिवार्य नहीं हैं जितने कि खेती और वस्त्र-सम्बन्धी धन्धे हैं, फिर भी ये ऐसे उद्योग हैं जिनकी उपेक्षा वर्तमान सामाजिक जीवन में नहीं की जा सकती।

३. यद्यपि इन उद्योगों में जनता का अधिकांश भाग नहीं लग जाता, तथापि इनसे बनने वाली वस्तुओं की हरएक के लिए आवश्यकता पड़ती है; अतएव जहाँ तक इनका उपभोग लोगों के लिए आवश्यक है तहाँ तक इन उद्योगों में समस्त जनता का स्वार्थ है।

४. ऐसे उद्योग सारे देश में नहीं चलते; बल्कि ख़ास-ख़ास स्थानों में ही रह और चल सकते हैं।

५. इनमें, मछली पकड़ने के और नमक बनाने के धन्धे खेती और चरखे की कोटि के हैं। उनके सम्बन्ध में आर्थिक नीति वैसी ही होनी चाहिए, जैसी कि खेती या चरखे के विषय में होनी चाहिए। जैसे सूत कातना प्रत्येक किसान का हक़ समझा जाय वैसे ही नमक बनाना समुद्र-तटस्थ प्रत्येक व्यक्ति का हक़ समझना चाहिए।

६. ये पूर्वोक्त दूसरे धन्धे, अधिकांश में, बड़ी पूँजी, विशेषज्ञता, सुप्रबन्ध, विशाल रूप, इत्यादि की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे धन्धे चाहे व्यक्तिगत तत्त्वावधान से चलें, चाहे राज्य की सीधी देख-भाल में चलें, इनपर राज्य का, नीचे लिखे अनुसार, अंकुश होना चाहिए—

(१) इनमें जो चीज़ें सार्वजनिक उपयोग के योग्य बनती हों उनकी क़ीमत लोगों के लिए अधिक से अधिक सस्ती होनी चाहिए;

(२) इन चीज़ों की बनावट अच्छी से अच्छी और मज़बूत होनी चाहिए;

(३) यदि ये धन्धे व्यक्तिगत तत्त्वावधान में चलते हों तो उनके मुनाफे और क़ीमत पर राज्य का अंकुश होना चाहिए;

(४) इनमें काम करने वाले मजदूरों की सुख-सुविधा की राज्य को ख़ास तौर पर चिन्ता रखनी चाहिए।

(५) इनमें से जो उद्योग ऐसे हों जो छोटे पैमाने पर और थोड़ी पूँजी से तथा गृह-उद्योग के तौर पर चल सकें उन्हें विशाल उद्योग का स्वरूप देते समय ऐसी मर्यादा रखनी चाहिए कि उसके बड़े-बड़े कल-कारख़ानों से गृह-उद्योग का नाश न हो जाय; तथा बड़े कारखानों में उन चीज़ों के बनाने की मनाई होनी चाहिए, जो गृह-उद्योगों में बन सकती हों।

७. कपड़े के कारख़ानों पर भी, जबतक वे चलें, यही नियम लागू होना चाहिए।

४] [हानिकर उद्योग

१. जो उद्योग लोगों के नीति,सदाचार तथा स्वास्थ्य के लिए नाशक हों—जैसे कि, शराब, ताड़ी, अफ़ीम, भांग, गाँजा, तम्बाकू, गोला-बारूद, शस्त्र-सम्बन्धी आदि, उन्हें राज्य ख़ानगी तौर पर न चलने दें अथवा यदि चलें तो उनपर राज्य का कड़ा अंकुश होना चाहिए।

२ उनको जारी करने में राज्य की नीति उनसे आय करने की

न होनी चाहिए; बल्कि यह दृष्टि होनी चाहिए कि वैद्यक अथवा दूसरे कारण से उन वस्तुओं की जितनी आवश्यकता हो उतनी ही उनकी उत्पत्ति की जाय और उन्हें लोगों तक पहुँचाया जाय।

३. ऐसे पदार्थों का व्यापार देशान्तरों में वहाँ के राज्य की इच्छा के अनुसार ही होने देना चाहिए।

५] : : [उपयोगी धन्धे

१. सामाजिक जीवन में उद्योगों के उपरान्त भी कितने ही उपयोगी काम करने वालों की जरूरत होती है, जैसे कि शिक्षक, सिपाही, वकील, न्यायाधीश, अधिकारी, डाक्टर, दूकानदार, सफ़ाईदार (भंगी आदि), कारकून, इत्यादि।

२. ये लोग प्रत्यक्ष रूप से तो किसी उपभोग्य पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उनकी उत्पत्ति तथा उपभोग में और अनर्थकारी पदार्थों की समुचित व्यवस्था करने में उनकी सहायता की जरूरत होती है।

३. इन कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह के लिए समाज पर जो बोझ पड़ता है उसे व्यवस्था-खर्च कह सकते हैं। इसलिए इन कार्यकर्त्ताओं की संख्या और उनके लिए होनेवाला व्यवस्था-खर्चा, जन-संख्या और देश की समृद्धि के लिहाज से मर्यादित होना चाहिए।

४. ये काम सेवा की भावना से होने चाहिए—धन कमाने

या श्रीमंत बन जाने के उद्देश से नहीं। इसलिए, इन लोगों को इतना स्थिर मेहनताना देकर निश्चित कर देना चाहिए कि जिससे वे समाज की स्थिति और समृद्धि की मर्यादा में रहकर जीवन-निर्वाह कर सकें। और उन्हें भी चाहिए कि उतने पर सन्तोप मानें एवं इसके अलावा दूसरी आमदनी न करें।

५. ऐसी मर्यादा में रह कर यदि ये काम किये जायँ तो ये समाज के सर्वोदय में सहायक होंगे और इनमें पड़ने के लिए अनुचित लालसाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए की जानेवाली कुटिल युक्तियों की आवश्यकता न रहेगी।

६, जो धन एकत्र करना चाहते हैं, जमीन, मकान, गहनों की जिन्हें इच्छा है, जो इनका विस्तार बढ़ाना चाहते हैं उनके लिए उद्योग ही आकर्षक द्वार होना चाहिए और उद्योगों में इनके लिए गुञ्जायश भी होनी चाहिए। परन्तु उनकी आमदनी या मुनाफ़े की मर्यादा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे वे धन्धे उन्हें अनुकूल न प्रतीत हों।

७. इसके विपरीत जो मर्यादित परन्तु स्थिर और निश्चिन्त जीविका प्राप्त करना चाहते हैं, और चाहते हैं सेवा करना, उनके लिए इन धन्धों का द्वार खुला रहना चाहिए। इससे इन धन्धों में प्रवेश करने के लिए उनमें आवश्यक ज्ञान के अतिरिक्त चरित्र की भी उच्चता होनी चाहिए।

६] [ललित कलायें

१. संगीत, कथा, वार्ता, चित्र-कला, नृत्य, नाटक, सिनेमा, आदि ललित कलायें यदि उचित मर्यादा में रहें तो वे लोगों के निर्दोष मनोरंजन, ज्ञानप्राप्ति तथा भावना-विकास के साधन बन सकती हैं; यदि ये मर्यादा छोड़ दें तो शराब, अफ़ीम, जैसे हानिकर व्यसन हो जायँगी।

२. आम तौर पर ऐसी कलाओं को जीविका का पेशा न बनाना चाहिए; बल्कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह अपनी जीविका के धन्धे के उपरान्त ऐसी किसी कला में दिलचस्पी ले सके।

३. इस कारण से, सर्व-साधारण के मनोरंजन के लिए, ऐसी कलाओं के प्रदर्शन, या जलसों की व्यवस्था होनी चाहिए सो भी लोगों के उत्साह से ही और ग़ैर-पेशेवर लोगों की मंडलियाँ बनाकर।

४. ऐसी कलाओं का शौक़ अमर्याद, अनीति की तरफ़ ले जाने वाला या हानिकर न हो जाय, इसके लिए ऐसे प्रदर्शनों और जल्सों पर अंकुश और देख-भाल होनी चाहिए।

५. ये नियम तो पथदर्शन के लिए बताये गये हैं। संभव है कि इन कलाओं के द्वारा जीविका उपार्जन करने की मनाई करना व्यावहारिक और हितकर न हो। इसलिए ग्राम-पंचायतों को उचित है कि वे जहाँ-जहाँ हो सके ऐसी तजवीज करें कि इन कलाओं का निर्दोष, ज्ञानप्रद और

सद्भावपोषक उपभोग लोग ले सकें और पिछले प्रकरण में उपयोगी धन्धों के सम्बन्ध में सूचित किये अनुसार उनका कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे समृद्धि की मर्यादा में रहकर ऐसे पेशेवरों की निश्चित जीविका बाँध दें, और इस प्रकरण में की गई सूचना के अनुसार सुचरित्र कलाविद् प्राप्त करें।

६. जो लोग स्वतंत्रता-पूर्वक ऐसे धन्धे करना चाहते हैं उनपर नीति का नियमन होना चाहिए, और उसके अतिरिक्त परवाने तथा ख़ास कर इत्यादि की भी क़ैद हो सकती है।

७. ऐसी कलाओं की उचित पुष्टि और वृद्धि के लिए राज्य की ओर से, सुविधा देखकर, उनके विशेषज्ञों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, बशर्तेकि इसमें तारतम्य का भंग न हो।

८. जो कारीगर अपने धन्धे में कला-कौशल दिखावे, वह उत्तेजना देने योग्य समझा जाय और इस तरह कला की उन्नति की ओर राज्य को सबसे पहले ध्यान देना चाहिए।

गो पा

१. धार्मिक दृष्टि

२. अन्य प्राणियों का पालन

३. प्राणियों के प्रति क्रूरता

४. गोवध

ल न

१] : : [धार्मिक दृष्टि

१. हिन्दू-धर्म में गो-पालन को धार्मिक महत्व दिया गया है और गो-वध महापाप माना गया है एवं गो-रक्षा राजाओं और वैश्यों का एक विशेष कर्त्तव्य बताया गया है। इस कारण गो-रक्षा के लिए लाखों रुपयों का दान दिया जाता है; फिर भी, उचित दृष्टि के अभाव से, आज भारत में गो-भक्षक देशों की अपेक्षा भी पशुओं की दशा अधिक दया-जनक है।

२. गो-पालन-सम्बन्धी धार्मिक दृष्टि में नीचे लिखे अनुसार विकास होने की आवश्यकता है—

(१) गो-पालन का क्षेत्र सिर्फ इतना ही नहीं है कि अपंग और अशक्त पशुओं का ही पालन किया जाय; बल्कि गाय और बैल की क़िस्मों को सुधार कर गाय का सत्व और दूध बढ़ाना एवं बैल की क़िस्म सुधारना भी गो-पालन धर्म में सम्मिलित है।

(२) इस कारण पींजरापोलें ऐसी आदर्श गो-शालायें होनी चाहिएँ जो लोगों को गोपालन का पदार्थ-पाठ दे सके। उनके ऐब, उनको घास, दाना इत्यादि देने का तरीक़ा और परिणामों का विचार इत्यादि में शास्त्रीय—वैज्ञानिक—सावधानी और निश्चितता तथा अध्ययन से काम लेना चाहिए।

(३) पशुओं की औलाद सुधारने के लिए, पींजरापोलों की तरफ़ से सांडों का पालन इस तरह होना चाहिए कि जिससे गाँव के लोगों को पूरा-पूरा लाभ मिले।

(४) पींजरापोलों में चर्मालय-विभाग भी होना चाहिए और मरे ढोरों के चमड़ों के उद्योग के प्रति घृणा-दृष्टि रखने के बदले कर्त्तव्य-दृष्टि होनी चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि जो मालिक मरे पशुओं के चमड़े का उपयोग नहीं होने देता है वह उनकी हत्या को प्रोत्साहित करता है और, इसलिए, जीव-दया-धर्मी को उचित है कि वह मरे पशुओं के चमड़े का ही इस्तेमाल करने का आग्रह रक्खे।

(५) जीवित पशु की अपेक्षा क़त्ल किये गये पशु का अधिक क़ीमती माना जाना धार्मिक दृष्टि से भयानक है, यह जानकर जीवित पशुओं के आर्थिक महत्व बढ़ाने का यत्न करना धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाना चाहिए।

(६) बैल को बधिया करना अनिवार्य है—ऐसा समझकर बधिया करने की दुःख-रहित शास्त्रीय पद्धति को जानना और पींजरापोलों में उसकी योजना करना चाहिए।

(७) जब प्राणी को ऐसा कष्ट होता हो कि उसके अपंग और असहाय हो जाने पर भी उसके बचने की आशा न हो और सिर्फ़ वेदना का समय ही बढ़ता हो तो, उसके

प्राण छुड़वाने का दुःख-हीन उपाय करना दया-धर्म है—इस विचार को स्वीकार कर लेना चाहिए।

२] : : [अन्य प्राणियों का पालन

१. यह सच है कि गो शब्द में आमतौर पर समस्त प्राणियों का समावेश होता है; फिर भी उसके व्यवहार में अहिंसा की दृष्टि से भी कितनी ही बातों में विवेक से काम लेने की जरूरत है। बिना विवेक के किया गया प्राणियों का पालन अन्त में हिंसा का ही पोषण करता है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में भैंस के दूध-घी के उपयोग से गाय और भैंस दोनों की हिंसा की वृद्धि हुई है। इसके कारण ये हैं—

(क) भैंस ठंडक और पानी में रहने वाला प्राणी है। इसलिए उसे गर्म और सूखे प्रदेशों में रखना उसके साथ क्रूरता करना है।

(ख) पाड़ों या भैंसों का कुछ उपयोग नहीं होता, इसलिए उनका वध किया जाता है।

(ग) गाय का पालन बैल के लिए और भैंस का पालन दूध के लिए होने के कारण, भैंस की तरह गाय का पालन लाभदायी नहीं होता और इसलिए गाय के दूध बढ़ाने का उद्योग नहीं होता और उसके कत्ल को उत्तेजना मिलती है।

३. इस कारण से भैंस के घी-दूध को छोड़कर भैंस का पालना बंद कर देना उचित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भैंसों को कत्ल करा दिया जाय, बल्कि यह है कि भैंसों की बढ़ती रोकी जाय।

४. इसी तरह यदि विवेक के साथ विचार किया जाय, तो गलियों में भटकने वाले कुत्तों को खिलाना और उसको धर्म समझना ग़लत है। जो लोग कुत्तों के शौक़ीन हों उन्हें चाहिए कि वे उन्हें विधिवत् रक्खें और उनका पालन करें—सब तरह उनकी चिन्ता और हिफ़ाजत रक्खें। इसके विपरीत जो कुत्ते गली-गली में मारे फिरते हैं उन्हें खिला-पिला कर उनकी वृद्धि करना न केवल उनकी विडम्बना करना है बल्कि उनकी जातीय अधोगति भी करना है। इसके सिवा उनसे लोगों को जो असुविधा होती है और उनके पागल हो जाने का अंदेशा रहता है सो अलग ही।

५. बंदर, कबूतर, चींटी इत्यादि जीवों को खिलाने का धर्म तो इससे भी अधिक भ्रम-पूर्ण है। जिन प्राणियों का जीवन मनुष्यों पर अवलम्बित नहीं है और जिनका मनुष्य के लिए कुछ उपयोग नहीं है उनका पालन-पोषण करने में अविचार है। इससे अन्त में अपनी ही कठिनाइयाँ बढ़ती हैं और उन प्राणियों की भी हिंसा होती है।

६. जो लोग जैन अथवा वैष्णवों में प्रचलित प्राणियों के प्रति अहिंसा धर्म को नहीं मानते हैं उनके द्वारा, यदि पूर्वोक्त-उपद्रवों के कारण, ऐसे प्राणियों का बार-बार वध हो तो

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसे प्राणियों के वध के लिए बहुतांश में वही लोग जिम्मेवार हैं जो उन्हें खिलाना-पिलाना अपना धर्म समझते हैं और इस कारण उन वध करनेवालों पर उनका रोष अकारण है।

३] :: [प्राणियों के प्रति क्रूरता

१. प्राणियों को एक झटके में मारडालने की अपेक्षा उनके प्रति क्रूरता का व्यवहार करने में कम हिंसा नहीं है। ऐसी हिंसा हिन्दुओं में भी खूब होती है।

२. फूँका लगाना, आरी भोंकना, हद से अधिक बोझा लाद देना, पेटभर घास-दाना न देना, पूँछ मरोड़ना, इधर-उधर भटकने और जहाँ-तहाँ मुँह मारने देना, घायल या रोगी अंगों का इलाज न करना, कमजोर या बेकाम हो जाने पर उन्हें घर से छोड़ देना, क्लेशदायक रीति से वधिया करना आदि तरीक़े अमानुष और क्रूर हैं।

३. इसके फल-स्वरूप भारतवर्ष के गाय, बैल, भैंस, घोड़े, गधे, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि सब प्राणी इस तरह दुर्जीवन बिताते हैं कि जिसे देख कर रोमांच हो जाता हैं।

४] :: [गोवध

१. हिन्दुओं की धार्मिक दृष्टि के सन्तोष के ही लिए नहीं, बल्कि भारतवर्ष की आर्थिक दृष्टि से भी गोवध की मनाई होनी चाहिए।

२. परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक हिन्दुओं को धीरज रखकर, समझाने-बुझाने और अपने सेवा-कार्यों से उस वध को रोकने का यत्न करना चाहिए।

३. गोवध को रोकने के लिए मनुष्य (मुसलमान) वध करना अधर्म है।

४. मुसलमान यदि यह समझ कर कि गो-कुशी उनके यहाँ अनिवार्य नहीं है, उसे बंद करदें तो यह उनका परम सत्कृत्य समझा जायगा। परन्तु यदि वे हिन्दुओं की मनोभावनाओं का ही लिहाज करके अपने आप छोड़दें तो यह उनका दूसरे नम्बर का सत्कृत्य होगा।

५. जो शख्स इस तरह जाहिर तौर पर गोकुशी करता है, अथवा गाय का जुलूस निकालता है कि जिससे हिन्दुओं के दिलों को चोट पहुँचे, तो इसे धर्म-कर्म नहीं कह सकते। ऐसा आचरण मना होना चाहिए।

६. जो मुसलमान त्योहार के दिन गाय की क़ुरबानी करते हैं उसकी अपेक्षा वह अंग्रेजी राज्य जो खाने के लिए रोज गायें क़त्ल करवाता है, हिन्दुओं का और साथ ही भारतवर्ष का अधिक द्रोह करता है।

खा

१. चरखे के गुण

२. चरखे के सम्बन्ध में गलत धारणायें

३. खादी और मिल का कपड़ा

४. चरखा और हाथ करघा

५. खादी-उत्पत्ति की क्रियायें

६. घर बनी और खरीदी खादी

७. यज्ञार्थ कताई

८. खादी-कार्य

दी

(अ) सहयोगी उद्योग के रूप में चरखे में जो गुण हैं वे दूसरे किसी भी उद्योग में नहीं हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. यह सुसाध्य है, तत्काल-साध्य है;

कारण—

(क) इसमें किसी बड़े औजार की जरूरत नहीं होती। कपास घर का और औजार भी घरेलू ही।

(ख) इसमें न बहुत बुद्धि की जरूरत है न बड़ी कुशलता की। अपढ़-कुपढ़ किसान भी इसे सहज ही बना सकता है।

(ग) इसमे न भारी मिहनत की जरूरत है; स्त्रियाँ भी कात सकती हैं, बच्चे-बूढ़े और बीमार भी कात सकते हैं; और

(घ) यह तो सिद्ध भी हो चुका है।

२. कतैये के लिए घर बैठे का धन्धा है, सूत हमेशा बिक सकता है, और गरीब के घर में दो पैसे की वृद्धि होती है।

३. इसे बारिश की भी जरूरत नहीं; अकाल के समय में यह भूखों का बेली हो जाता है।

४. न तो इसमें कोई धार्मिक रुकावट है और न यह ऐसा धन्धा है जिसमें लोगों का दिल न लगे।

५. घर बैठे आदमी को काम मिलता है इससे इसमें मिलों के

मजदूरों की तरह घर-बार छोड़कर दूर देश जाने और कुटुम्ब को छिन्न-भिन्न कर डालने का अंदेशा नहीं है।

६. इस कारण, हिन्दुस्तान की जो ग्राम-पंचायतें आज मृत-प्राय हो गई हैं उनके पुनरुद्धार की आशा इसमें समाई हुई है।

७. किसान की तरह बुनकर का भी काम इसके बिना नहीं चल सकता। जो बुनकर आज भी भारत की आवश्यकता का ३ कपड़ा बुनते हैं वे किसी दिन, चरखे के अभाव में, बरबाद हुए बिना न रहेंगे।

८. इसके पुनरुद्धार के साथ ही दूसरे कितने ही धन्धों का उद्धार हो जायगा; बढ़ई, लुहार, पिंजारे, रंगरेज—सब में फिर से जीवन आ जायगा।

९. यही एक ऐसी चीज़ है जिसके द्वारा धन के असमान विभाजन में समानता आ सकेगी।

१०. इसी से बेकारी मिटेगी। सिर्फ़ यही नहीं किसान को फ़ुरसत के वक़्त काम मिल जायगा बल्कि आज जो पढ़े-लिखे लोग रोज़ी के लिए इधर-उधर मारे-मारे भटकते हैं उन्हें भी पूरा काम मिल जायगा। इस धन्धे के पुनरुद्धार का कार्य इतना बड़ा है कि इसकी व्यवस्था और संचालन के लिए हजारों शिक्षित पुरुषों की आवश्यकता होगी।

(आ) इसके उपरान्त चरखा जहाँ फिर से जम गया है वहाँ दूसरे फ़ायदे भी बहुतेरे हुए हैं जोकि उसके गुण बताये जा

सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

११. चरखे ने कितने ही लोगों के जीवन और हृदय को बदल दिया है।

१२. चरखे के बदौलत शराब-खोरी घटने लगी है और किसान क़र्ज़ से छुटकारा पाने लगे हैं।

१३. अकाल में संकट-निवारण के कामों में चरखा सफल साबित हुआ है।

२] : : [चरखे के सम्बन्ध में गलत धारणायें

१. चरखे पर जो बहुतेरी टीका-टिप्पणियाँ होती हैं उनका मूल कारण है चरखे के सम्बन्ध में ग़लत धारणायें। नीचे उनका निवारण किया जाता है—

२. चरखा मिलों की स्पर्द्धा नहीं करता। मिलों का स्थान चरखा ले ले, यह नहीं चाहा जाता है।

३. चरखा किसी भी मुख्य धन्धे की जगह नहीं बताया जाता है। चरखे का उद्देश यह भी नहीं है कि यदि सशक्त मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति और पूरे समय के लिए कोई काम मिलता हो तो उससे वह पराङ्मुख किया जाय। इस कारण उसकी आमदनी की तुलना दूसरे धन्धों की आमदनी से कदापि न करनी चाहिए।

४. ऐसा कोई नहीं कहता कि चरखे से ही पेट भरो; दूसरे सब धन्धे छोड़कर चरखा ही चलाते रहो।

५. हाँ, चरखे से देश के धन की तो अवश्य वृद्धि होती है; परन्तु उसके द्वारा कोई धनवान् होने की आशा रक्खेगा तो पछतावेगा।

६. हिन्दुस्तान के किसानों को आज खेती से छः महीने फ़ुरसत रहती है और उनका वह समय फ़जूल चला जाता है। इसके फल-स्वरूप बेकारी और दरिद्रता का बड़ा प्रश्न उपस्थित हो गया है। उसका तत्काल फलदायी व्यावहारिक एवं स्थायी इलाज चरखा है। यह दावा चरखावादियों का अवश्य है।

७. चरखे द्वारा आमदनी भले ही फूटी कौड़ी के बराबर हो; परन्तु किसान का जहाँ आधा साल फ़जूल और बेकार जाता है और उसमें उसे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती एवं उलटा बेकारी की बीमारी गले पड़जाती है—ये दो बातें यदि न होतीं तो भारत के अर्थशास्त्र में चरखे के लिए कहीं स्थान न होता।

३] : : [खादी और मिल का कपड़ा

१. खादी और मिल में प्रतिस्पर्द्धा न होने देनी चाहिए। और यदि ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो वह है भी नहीं।

२. चरखा करोड़ों का गृह-उद्योग है और उनके जीवन का आधार है। यदि मिल का उद्योग इस तरह चलाया जाय, और चलने दिया जाय कि वह चरखे को मिटा दे तो वे

चलानेवाले एवं चलने देनेवाले जनता-हित का विचार नहीं करते।

३. इस कारण यदि मिलों को रखना ही है तो उनका क्षेत्र चरखे के क्षेत्र से बाहर ही रहना चाहिए। अर्थात् करोड़ों लोग जिस तरह का सूत कात और बुन सकते हैं वैसा कपड़ा बनाने की मनाई मिलों को होनी चाहिए।

४. व्यक्तिगत नहीं, परन्तु राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो किसी भी वस्तु की लागत क़ीमत आँकने के लिए सिर्फ उसके माल, पूँजी, और मजूरी के ख़र्च का ही विचार न करना चाहिए, बल्कि इस तरह चीज़ें बनाने से जो बेकारी बढ़ती है और उनके निर्वाह के लिए लोगों पर जो ख़र्च पड़ता है वह भी उसकी लागत में जोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो मालूम हो जायगा कि खादी की बनिस्बत मिल का कपड़ा मँहगा पड़ता है।*

---

* इस विचार को समझने में श्री ग्रेग का पुस्तक से ली गई नीचे लिखी जानकारी उपयोगी होगी—हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के द्वारा एक मनुष्य जितना सूत कातता और कपड़ा बुनता है उससे मिल में (१९२६ ई० की गिन्ती के अनुसार) फी घण्टा २०३ से २३६ गुना और बुनाई २० गुना अधिक होती है। अर्थात् दोनों एक-समान घण्टे काम करें तो सूत की मिल का मजूर २०० से अधिक कतैयों को और बुनकर २० हाथ बुनकरों को बेकार बनाता है। इनमें से ¾ बेकार भी यदि दूसरे कामों में लग जायँ, ऐसा मान लें तो भी २६७½ लाख मनुष्यों की ३ आना के हिसाब से मजूरी का नुकसान होता है। इनके निर्वाह का खर्च यदि विदेशी और स्वदेशी मिलों के कपड़े पर चढ़ाया जाय

५. यदि राजतन्त्र प्रजाहितकारी ही हो तो मिल को खादी के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने की व्यवस्था तबतक नहीं चलने देगा जबतक बेकारी मिटाने का कोई उपाय न सूझ जाय।

६. जब तक ऐसा तंत्र न हो तबतक ग़रीब लोगों के प्रति सहानुभूति रखकर लोगों को चाहिए कि वे ऐसे धन्धों को रोकें।

७. मिल की इस हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा को रोकने के अहिंसात्मक उपाय ये हैं—विदेशी वस्त्र का तथा उन देशी मिलों का बहिष्कार जो खादी के क्षेत्र में उतर आई हैं, धरना, खादी ही पहनने की प्रतिज्ञा, खादी के लिए दान, तथा यज्ञार्थ कताई।

तो फी वार १॥। आना, और सिर्फ़ विदेशी कपड़े पर चढ़ावें तो ६ आना २ पाई कीमत उस कपड़े की बढ़ जाय। १९२६ की गिन्ती के अनुसार भी खादी और मिल कपड़े की कीमत में २ आने का ही फर्क था। आज तो इससे भी कम है। यदि सरकार प्रजासत्ताक हो तो इन बेकारों का निर्वाह-खर्च कपड़े की मिलों से प्रत्यक्ष कर के रूप में वसूल किया जाय। और फिर यह स्पष्ट ही मालूम हो जाय कि मिल का कपड़ा सस्ता नहीं है। आज इस खर्च को लोग परोक्ष रीति से देते हैं और इस कारण कपड़े के बाज़ार-भाव में वह दिखाई नहीं देता।

अधिक विस्तार के लिए पाठकों को श्री ग्रेग की पुस्तक ही पढ़ना चाहिए।

—लेखक

इसका हिन्दी अनुवाद 'खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र' सस्ता-साहित्य-मंडल से मिल सकता है।

—अनुवादक

१. चरखा कातने के बदले सिर्फ हाथ-बुनाई को ही उत्तेजना देना, और मिल के सूत का नहीं बल्कि सिर्फ मिल-बुनाई का ही बहिष्कार करना, यह विचार चरखे-सम्बन्धी गलतफहमी से पैदा होता है, क्योंकि–

२. जिस तरह हाथ-कताई सार्वत्रिक उद्योग हो सकता है, उस प्रकार हाथ-बुनाई नहीं हो सकता।*

३. इस विचारवालों के ध्यान में यह सूक्ष्म भेद नहीं आता कि चरखा तो सह-उद्योग ही हो सकता है, किन्तु बुनाई स्वतंत्र पेशा ही हो सकता है।

४. यदि कानून के द्वारा मिल-बुनाई बन्द न हो, बल्कि लोगों के प्रयत्न से ही उसका बहिष्कार करना पड़े तो फिर बुनकरों को मिलों की दया पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। क्योंकि मिल तो हाथ-बुनाई की प्रतिस्पर्द्धा करती है और दिन-दिन मिलें ही अधिक बुनाई करती जा रही है। एवं यह प्रतिस्पर्द्धा दिन-दिन तीव्र और घातक होती जायगी।

५. इसके विपरीत हाथ-करघा और चरखा दोनों जुड़े भाई-

* "भारत को प्रतिवर्ष ४६६ करोड़ गज कपड़े की आवश्यकता हैं। (यह सब कपड़ा हाथ-करघे पर बुनाना जाय तो भी) अधिक से अधिक रोज दो घण्टा काम करने वाले ९० लाख बुनकरों को हम काम दे सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि इतने बुनकर नहीं, बल्कि इतने कुटुम्बों को काम मिला तो ये दो आना रोज भी उतने लोगों में बँट जायंगे। फलतः फी आदमी आमदनी अपेक्षाकृत बहुत कम हो जायगी।" —लेखक

बहन हैं। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं टिक सकते।

६. प्रत्येक घर में एक चरखा, और हरएक छोटे गाँव में एक करघा यह आनेवाले युग के विधान का मंत्र है।

५] :: [खादी-उत्पत्ति की क्रियायें

१. खादी-उत्पत्ति सम्बन्धी—लोढ़ने से लेकर बुनाई तक की—सब क्रियायें गृह-उद्योग द्वारा होना ही उचित हैं। यदि इनमें से कोई भी क्रिया कारखाने में करनी पड़े तो संभव है कि इससे खादी का उद्देश न जाने कब गड्हे में गिर जाय।

२. इस कारण लोढ़ना और पींजन—ताँत—को चरखे के आनुपंगिक अंग समझना चाहिए।

३. चरखा, पींजन, लोढ़ना, में जो कुछ सुधार किये जायँ वे ऐसी मर्यादा में होने चाहिए कि जिससे गृह-उद्योग के रूप में इनका नाश न हो जाय।

४. खादी-सुधार के लिए कपास इकट्ठा करने से लेकर बुनाई तक की सब क्रियाओं का, और साथ ही, यंत्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन और अभ्यास करना चाहिए।

५. इसकी पहली सीढ़ी यह है कि जिसके खुद कपास की खेती है वह अपनी आवश्यकता के योग्य कपास रख छोड़े। इसके लिए किसान अच्छा बीज इकट्ठा करने की चिन्ता रक्खेगा और कपास को पौधे पर से ही इस तरह चुन लेगा कि जिससे उसमें मिट्टी या गर्द न मिलने पावे। यों तो

किसान इन बातों को खुद ही करने लग जायगा, किन्तु उसे समझाने की, राह दिखाने की और ब्योरा बताने की जरूरत है।

६. हाथ-लोढ़ने में कपास के बीज—बिनौले—को कोई नुक़सान नहीं पहुँचता और न रुई के तन्तुओं की मजबूती ही कम होती है। ताज़ी लोढ़ी हुई रुई को पींजना आसान होता है।

७. अच्छे सूत का बहुत-कुछ दारोमदार अच्छी पूनी पर रहता है। जो कातना जानता है वह भली और बुरी पूनी का भेद समझता है और जो पींजना जानता है वह उसकी खूबियों को जानता है। इसलिए जो पींजना जानता है वह दूसरे की बनाई पूनी का इस्तेमाल बदरजे मजबूरी ही करता है।

८. खराब पूनी से सूत का अंक घटता है और टूटे तारों की रद्दी बढ़ती है। अतएव आर्थिक दृष्टि से वह बहुत हानिकर है।

९. रुई की क़िस्म जितना बरदाश्त कर सके उससे मोटा या महीन सूत कातना हानिकर है। आमतौर पर कतैयों का झुकाव मोटा कातने की तरफ़ होता है इसे रोकने की ज़रूरत है। खादी-उत्पादक का ध्यान इस बात पर अवश्य रहना चाहिए कि रुई की किस्म के योग्य महीन सूत कताया जाय।

१०. उत्पादकों को इस बात पर भी नज़र रखना चाहिए कि सूत पूरे कसका और एक-सा निकले।

११. महीन सूत का मतलब है थोड़ी रुई से अधिक कपड़ा, कसदार सूत का मतलब है मज़बूत और टिकाऊ कपड़ा, और समान सूत का मतलब है एकसा और सुंदर कपड़ा। फिर

यदि सूत कसदार और एक-सा हो तो बुनकर थोड़ी मजदूरी में ही उसे बुनने के लिए तैयार हो जाता है। इस कारण खादी सस्ती करने के ये महत्वपूर्ण अंग हैं।

१२. खादी-सेवक को उत्पत्ति-सम्बन्धी सब क्रियाओं का अनुभव-युक्त ज्ञान होना चाहिए। फिर खादी-उत्पत्ति-सम्बन्धी सभी यंत्रों के गुण-दोष और उनकी मरम्मत का भी ज्ञान होना चाहिए। वह खुद इतना कारीगर अवश्य हो कि गाँव के किसानों को ही नहीं, बल्कि बढ़ई, लुहार, इत्यादि कारीगरों को भी सिखा सके और राह बता सके। इसके अलावा उसे खादी के आर्थिक अंगों का भी परिज्ञान होना चाहिए।

६] : : [घर-बनी और ख़रीदी हुई खादी

१. किसान अपने ही खेत की कपास से खुद लोढ़, पींज, कातले और सिर्फ बुनाई के लिए ही पैसा दे, तो वह खादी मिल से भी सस्ती पड़ती है। इसे वस्त्र-स्वावलंबन कहते हैं।

२. किसान रुई—खास करके राह-खर्च लगकर आई हुई रुई—खरीद कर पूर्वोक्त क्रियायें घर पर करे तो उसका कपड़ा आज मिल के कपड़े से कुछ महँगा पड़ता है। परन्तु सूत के कस और अंक में सुधार होने से यह कसर निकल जायगी। फिर भी यह खादी मिल के कपड़े से तो अधिक ही टिकाऊ होती है। इसलिए, इस हिसाब से उसे सस्ती ही कह सकते हैं।

३. खरीदी हुई खादी की क़िस्मों में और सस्तेपन में जो तरक्क़ी अब तक हुई है उससे उसके भविष्य के सम्बन्ध में तथा चरखे का आन्दोलन ठीक दिशा में किया गया उद्योग है इस विषय में कोई संशय नहीं रहता।

७] : : [यज्ञार्थ कताई

१. यज्ञार्थ कताई का अर्थ है अपने आर्थिक लाभ की इच्छा न रखकर सूत कातना।

२. जिसे ग़रीबों के और देश के हित का ख़याल है उसे इस तरह प्रतिदिन यज्ञार्थ सूत कातना।

३. इससे वे ग़रीब लोग भी कातने लगेंगे जिन्हें थोड़ी आमदनी की जरूरत होती है।

४. फिर इससे हम लोग, जो कि किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किये बिना बहुत सी चीजों का उपभोग करते रहते हैं, उत्पादक श्रम की महिमा समझेंगे और उसमें अपना कुछ हिस्सा दे सकेंगे।

५. इस तरह धनी और गरीब दोनों एक प्रकार के श्रम में शरीक होकर एक दूसरे से अपनी डोर बाँध सकेंगे।

६. फिर चरखे को धता बताकर हमने विदेशी कपड़े को लाने का जो पाप किया है उसके प्रायश्चित्त के रूप में भी यज्ञार्थ कताई को समावेश हो सकता है।

७. इस कारण आज पुरुषों और बच्चों के लिए भी कताई एक

आवश्यक कर्त्तव्य हो गया है।

८. जो अपना सूत खुद कात लेते हैं वे देश के लिए आवश्यक कपड़े—सम्बन्धी अपनी जिम्मेवारी खुद पूरी करके सहायता देते हैं।

९. यह सब यज्ञार्थ कताई कहा जा सकता है; परन्तु श्रेष्ठ प्रकार का कताई यज्ञ तो यह है कि नित्य आधा घण्टा नियम-पूर्वक कातें और वह सूत देश के अर्पण करें।

१०. इस तरह कातने की मजदूरी का दान यदि बहुत बड़ी तादाद में देश को मिले तो इससे भी खादी, गरीबों की मजूरी कम हुए बिना, सस्ती हो सकती है।

८] :: [खादी-कार्य

१. खादी की उत्पत्ति और बिक्री के संगठन में सैकड़ों उच्च-आकांक्षी युवकों को अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापारिक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान को प्रदर्शित करने का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। इस एक ही काम को सुचारु-रीति से सम्पन्न कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य-सञ्चालन-शक्ति सिद्ध कर सकता है।

२. फिर यह काम आज आत्मशुद्धि का बहुत बड़ा सहायक हो रहा है। इसके निमित्त से कार्यकर्तागण गाँव-गाँव में स्वराज्य का और उसकी तैयारी के रूप में किये जाने वाले रचनात्मक कार्यक्रम (अहिंसा, मद्यपान-निषेध, अस्पृश्यता-

निवारण, स्वच्छता, राष्ट्रीय एकता आदि) का संदेश पहुँचा रहे हैं।

३. एक ऐसा महकमा होना चाहिए जो खादी के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी दिया करे (और शोध करता रहा करे।

स्वच्छता

और

आरोग्य

१. शारीरिक स्वच्छता

२. सुघड़ आदतें

३. बाह्यस्वच्छता

४. शौच

५. जलाशय

६. बीमारियाँ

७. इलाज

८. आहार

९. व्यायाम

१] :: [शारीरिक स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के विषय में भारत की कुछ जातियों ने तो ठीक-ठीक ध्यान दिया है; परन्तु सर्वसाधारण में अभी इसके विषय में बहुत काम करना है।

२. बच्चे की सफ़ाई पर तो पूर्वोक्त जातियों में भी बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। यह नहीं दिखाई देता कि बालक के खुद सफ़ाई रखने के लायक़ होने के पहले, उसके माँ-बाप उसे साफ़-सुथरा रखने की काफी चिन्ता रखते हों।

३. नित्यस्नान करना चाहिए, यह बात हिन्दुओं का एक बड़ा भाग, धार्मिक नियम के तौर पर मानता है; किन्तु यह नहीं कह सकते कि तमाम हिन्दू ऐसा मानते हैं। भारत की दूसरी जातियों में रोज़ नहाने का आम रिवाज नहीं है। हिन्दुस्तान में रोज नहाना स्वच्छता तथा आरोग्य दोनों के लिए आवश्यक है।

४. परन्तु नहाने का मतलब सिर्फ़ इतना ही नहीं है कि बदन पर पानी डाल लिया जाय। नित्य स्नान करनेवाले बहुतेरे लोग इस से आगे नहीं बढ़ते हैं। बल्कि नहाने के मानी हैं शरीर का मैल निकाल कर उसके छिद्र खुले कर देना। इसलिए स्नान करने का पानी उतना ही साफ़ होना चाहिए जितना कि पीने का पानी होता है। ऐसा पानी यदि रोज़ काफ़ी मात्रा में न मिल सके तो गंदे पानी से नहाने की

अपेक्षा साफ़ पानी में कपड़ा भिगोकर उससे शरीर को मल-कर पोंछ डालना कहीं अच्छा है। हमारे देश के गाँवों में ही नहीं, बल्कि क़स्बों में भी लोग जैसे पानी से नहाते हैं, उसे नहाने लायक़ नहीं कह सकते।

५. आँख, कान, नाक, दाँत, नख, बग़ल, जोड़ आदि अवयव, जिनसे कि मैल निकलता है अथवा जिनमें मैल भरा रहता है, उनकी सफ़ाई की तरफ़ सभी लोगों में—खास कर बच्चों के विषय में—बहुत लापरवाही रक्खी जाती है। छोटे बच्चों को जो आमतौर पर आँख की बीमारियाँ हो जाती हैं वे आँख-नाक को साफ़ पानी और साफ़ कपड़े से न धोने और न पोंछने का परिणाम है। इस विषय में सफ़ाई रखने की ओर बहुत कम रुचि और गंदगी के प्रति बहुत कम अरुचि हम लोगों में पाई जाती है। इस कारण ग्राम-सेवकों और शिक्षकों के लिए यह विषय बहुत बारीकी से ध्यान देने योग्य है।

६. कपड़ों की सफ़ाई भी शरीर-स्वच्छता का ही एक भाग है। कपड़ों के मैले रहने का कारण केवल दरिद्रता ही नहीं कही जासकती। बहुतेरी गंदगी तो सफाई की आदत न रहने और आलस्य के कारण रहती है।

७. पैबन्द लगे कपड़ों से मनुष्य की दरिद्रता सूचित होती है। परन्तु उससे हमें शर्मिंदा होने की आवश्यकता नहीं। शूर-वीर के लिए जैसे घाव वैसे ही ग़रीब के लिए पैबन्द भूषण भी समझा जा सकता है। परन्तु कपड़ों को फटा और

गन्दा रहने देकर मनुष्य अपनी ग़रीबी का नहीं, बल्कि फूहड़पन और आलस्य का परिचय देता है और यह ज़रूर शर्मिंदा होने योग्य बात है।

८. यह न समझना चाहिए कि साफ़ कपड़े दूध की तरह सफ़ेद ही होते हैं। मेहनत-मजूरी करनेवाले लोग दूध की तरह सफ़ेद कपड़े नहीं रख सकते। परन्तु बार-बार उन्हें साफ़ पानी से धोना, बीच-बीच में साबुन लगाते रहना, या खार आदि से धोलेना और गरम पानी में डालकर जंतुरहित करना आवश्यक है।

९. बदन पर के कपड़ों से ही हाथ, मुँह, नाक, कान आदि पोंछना और उनमें रोटियाँ या खाने की अन्य वस्तुयें बाँध-लेना बड़ी गंदी आदत है। जिन्हें बदन पर पहने कपड़ों के अलावा दूसरा कपड़ा नहीं मिलता उन्हें कम से कम पुराने कपड़ों का छोटा सा रूमाल अवश्य कमर में खोंस रखना चाहिए। इसमें न खर्च लगता है, न मिहनत। अलबत्ता कपड़े साफ़ रहते हैं और उसे भी साफ़ रखना बहुत आसान है।

२] :: [सुघड़ आदतें

१. शारीरिक स्वच्छता के उपरांत और भी सुघड़ और सुथरी आदतें डालने की ज़रूरत है। इनके अभाव में हम उन

लोगों के दिलों में नफ़रत पैदा करते हैं जिनकी आदतें बहुत साफ़-सुथरी हैं।

२. हमारी आँखों को ऐसा अभ्यास होना चाहिए कि वे गंदगी को देखकर खामोश न रह सकें। इसका अर्थ यह नहीं है कि गंदगी देखकर हम वहाँ से भाग जावें; बल्कि फौरन उस गंदगी को दूर करने का उपाय करना चाहिए।

३. सफ़ाई-पसन्द आदमी कभी बैठने की जगह को साफ किये बिना नहीं बैठेगा। और जब उठेगा तब भी उसे साफ़ कर देगा। वह जहाँ चाहे तहाँ कागज के टुकड़े या दूसरा कूड़ा-करकट नहीं फेंक देगा। जहाँ-तहाँ थूकेगा नहीं। दतौन की लकड़ी, बीड़ी के ठूँठ, जली हुई दियासलाइयाँ, इत्यादि हर जगह नहीं फेंक देगा। बल्कि इन सबके लिए एक खास टोकरी या बरतन रक्खेगा और उसी में फेंकेगा।

सुघड़ता और सफाई की आदत डालने के लिए नीचे लिखे नियमों का पालन करना चाहिए —

४. बिना पानी लिये पाखाना न जाना चाहिए।

५. पाखाना जाने के बाद हाथ-पांव को मलकर धोना चाहिए और पाखाने का लोटा—यदि खासतौर पर न रक्खा गया हो तो—घिस कर माँजना चाहिए।

६. पानी पीने के लिए एक अलहदा बरतन मटके के पास रखना चाहिए। जूठा बरतन मटके में कदापि न डालना चाहिए। मटके के पास इस तरह खड़े रह कर पानी न पीना चाहिए कि जिससे पानी की बूँदें मटके पर पड़ें।

७. जहाँ बहुत से लोगों के पीने के लिए एक बरतन हो वहाँ प्याले या गिलास को मुँह से लगाकर पानी पीना अनुचित है। ऊपर से पीने की आदत डालना चाहिए और जो इस तरह न पी सकें उन्हें अपना बरतन अलहदा रखना चाहिए या चुल्लू से पीना चाहिए।

भोजन करने के स्थान पर यदि जूठन बिखरी हो तो उसे उठाकर उस जगह को, यदि बंद हो तो धोकर, यदि खुली हो तो बुहारकर साफ कर देना चाहिए। इतना करने के पहले उस जगह में घूमना-फिरना, जूठन चिपके पाँवों से साफ जगहों और कमरों में जाना-आना तथा उस जगह दूसरों को भोजन कराना अनुचित है।

९. आमतौर पर कडछुल या चमचे से ही परोसना चाहिए। साग, दाल या भात जैसी चीजें हाथों से परोसना उचित नहीं है। इससे भी अधिक बुरा जूठे हाथों से परोसना है। रोटी अथवा पूड़ी जैसी लूखी चीजें भी जूठे हाथ से न देना चाहिए।

१०. भोजन करनेवाले की थाली या कटोरी से छुआकर चीजें परोसना अस्वच्छता है और इस भय से कि हाथ कहीं छू न जाय, परोसने के बदले चीजें बरतन में दूर से फेंकना असभ्यता है।

११. गंदे पाँव से अपने बिछौने पर भी पैर न रखना चाहिए। जहाँ बहुतेरे मनुष्य एक जगह सोये हों वहाँ इस तरह न आना जाना चाहिए कि जिससे किसी के बिछौने पर पैर पड़े।

१२. काम करके आने पर अथवा पेशाब कर चुकने पर बिना हाथ धोये किसी खाने की चीज़ को न छूना चाहिए। या पानी के मटके में हाथ न डालना चाहिए। पान, तम्बाकू, बीड़ी के व्यसनियों को इस विषय में खास तौर पर एहतियात रखना चाहिए। जिनको बार-बार खुजली उठती हो, या नाक साफ़ करनी पड़ती हो उन्हें तो हाथ धोये बिना किसी खाने-पीने की चीज़ को हरगिज न छूना चाहिए।

१३. जिस बाल्टी या बरतन में कपड़े धोये हों उसको माँज कर चिकनापन दूर किये बिना उसे कूएँ में न डालना चाहिए—न पीने या रसोई बनाने का पानी उस में भरना चाहिए।

१४. नालियों में जब पेशाब करने के लिए बैठे तो यदि नजदीक कोई बरतन आदि पड़ा हो तो उसे इतनी दूर रख देना चाहिए कि जिससे छींटे न लगने पावें। और इस तरह हाथ-मुँह भी न धोना चाहिए, न कुल्ले ही करना चाहिए कि जिससे उनपर बूँदें पड़ें।

१५. अपने पहने हुए कपड़े, बिना धोये, दूसरों को पहनने के लिए, न देना चाहिए।

१६. बुरी गालियाँ निकालने की कुटेव को भी शारीरिक अस्वच्छता कह सकते हैं। जिस जीभ से परमात्मा का नाम लेते हैं उसीसे गंदी गालियाँ निकालना, नहाकर घूरे पर लोटने से भी अधिक गंदा है; क्योंकि इससे दूसरों के साथ मन भी अपवित्र होता है।

३] :: [बाह्य स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के बारे में शायद पूर्वोक्त वर्गों को प्रमाण-पत्र दिया जा सके, किन्तु घर, आँगन, गली, रास्ते आदि की सफ़ाई के विषय में ऐसा नहीं किया जा सकता। हाँ, दलित जातियाँ अलबत्ते इस विषय में कुछ प्रशंसा-पात्र हो सकती हैं। परन्तु आमतौर पर सभी को इस विषय में अपने जीवन में बहुत-कुछ सुधार करने की आवश्यकता है।

२. जहाँ तहाँ थूक देने, मल-मूत्र कर देने, कूड़ा-करकट फेंक देने और उनको इकट्ठा कर छोड़ने की गंदी आदत ने भारत के गाँव, शहर, तीर्थक्षेत्र, रास्ते, नदी, तालाब, धर्मशालायें, शालायें, स्टेशन, रेलगाड़ी, जहाज, आदि को कलंकित कर रक्खा है।

३. इस कुटेव के मूल में अस्पृश्यता भरी हुई है। मनुष्य जहाँ बसता है वहाँ गंदगी के कारण तो पैदा होंगे ही। परन्तु भारत के स्पृश्य वर्गों ने खुद गंदगी साफ़ करने के काम को हलका समझ कर तथा इन परोपकारी काम करने वालों को अस्पृश्य मानकर, गंदगी को दूर करने के बदले इकट्ठी करने का रिवाज डाल दिया है और खुद अस्पृश्यों के साथ सहयोग नहीं करते, इसलिए उनके सिर पर इतना काम छोड़ रक्खा है जो उनके किये नहीं हो सकता। इसके फल-स्वरूप देश में अनेक प्रकार के रोगों और प्रकोपों को

निमंत्रण दे रक्खा है और उन स्थानों को इतना गंदा बना दिया है कि रूह क़ब्ज होतीं है।

४. पूर्वोक्त प्रकार के स्थानों में थूकना, मल-मूत्र विसर्जन करना और कूड़ा-करकट डालना पाप है और यह गुनाह समझा जाना चाहिए।

५. पान, तम्बाकू आदि की आदत न हो तो नीरोगी मनुष्य को दतौन के वक़्त के अलावा थूकने की जरूरत नहीं रहती। दाँत, नाक या फेफड़े के बीमार को बारबार थूकना या नाक साफ़ करना पड़ता है। इससे जाहिर होता है कि पान-तम्बाकू आदि की आदत डालना मानों नीरोगी होते हुए भी रोगी आदमी का कष्ट मंजूर करना है। मनुष्य के थूक तथा बलग़म में बहुत तरह के ज़हर होते हैं। ये जहर हवा में मिलकर तन्दुरुस्त आदमी को भी छूत लगा देते हैं। इस कारण थूक, बलग़म आदि को नष्ट करने की व्यवस्था अवश्य करना चाहिए।

६. प्रत्येक घर में थूकने के लिए राख से भरा हुआ एक बरतन रखना चाहिए और उसी में थूकना चाहिए। उस बरतन को रोज दूर खेत में खाली करके नयी राख उसमें भरना चाहिए। यदि थूकने के लिए पीकदानी इस्तेमाल की जाती हो तो उसे हर कहीं खाली न करना चाहिए। बम्बई जैसे शहरों में जहाँ ग़टरों का पूरा इन्तज़ाम न हो वहाँ भले ही उन्हें नाली में खाली किया और धोया जाय; परन्तु देहात और कस्बों में तो उन्हें खेतों में

डालकर ऊपर मिट्टी डाल देना चाहिए। या गरम राख उसपर डालकर उसे दूर फेंक आना चाहिए।

४] : : [शौच *

१. रास्तों में पाखाना बैठने की आदत बिल्कुल न होनी चाहिए। खुली जगह में, जहाँ लोग आते-जाते और देखते हों, पाखाना फिरना या बच्चों तक को टट्टी बैठाना असभ्यता है।

२. इसकारण प्रत्येक गाँव में घूरे की जगह में सस्ते से सस्ते पाखाने बनवाने चाहिए और उन्हें रोज नियमित रूप से साफ़ करना चाहिए।

३. यदि जंगल में ही शौच जाना हो तो गाँव से १ मील दूर, जहाँ आबादी न हो, जाना चाहिए। वहाँ पहले एक गड्ढा खोद लेना चाहिए और शौच क्रिया के बाद मल पर खूब मिट्टी डाल देना चाहिए। समझदार किसान अपने खेतों में ही पूर्वोक्त प्रकार के पाखाने बनाकर अथवा 'जंगल' जाकर मिट्टी डाल दे और बिना पैसे का खाद प्राप्त कर ले।

४. इसके अलावा बालक, बीमार, आदि के तथा वक्त-बेवक्त काम आने के लिए हर घर में एक पाखाना जरूर होना

* यह तथा इसके आगे के कितने ही प्रकरण गाँधीजी लिखित—'गामड़ानी वहारे' नामक लेखमाला के आधार पर लिखे गये हैं। गुजराती जानने वाले पाठक उसे अवश्य पढ़ें। —लेखक

चाहिए। उसके लिए टीन के डिब्बों का उपयोग किया जा सकता है और उनमें भी मैले पर काफ़ी मिट्टी डाल देना चाहिए। इन डिब्बों को रोज़ खेत में गड्ढा बना कर उसमें खाली कर देना चाहिए और ऊपर से साफ़ मिट्टी डाल देनी चाहिए। डब्बे इस तरह साफ़ करने चाहिए कि उनमें बदबू न रहे।

५. पाख़ाने में पानी और पेशाब गिरने के लिए एक अलहदा डिब्बा रखना चाहिए। और इस्तैमाल करने वाले को इतना एहतियात रखना चाहिए कि इधर-उधर पानी-पेशाब न गिरने पावे।

६. बंद पाखाने बिल्कुल बेकार हैं; क्योंकि इतनी गहराई में खाद पैदा करने वाले जन्तु नहीं रहते और उनमें से गंदी वायु पैदा होती और हवा को बिगाड़ती हैं।

७. गलियों में पेशाब करना पाप समझना चाहिए। इसके लिए भी बहुत मिट्टी से भरे कूँडे रखना चाहिए—जिससे न बदबू आवे, न इधर-उधर छींटें गिरें।

८. हर एक व्यक्ति को खुद पाख़ाना साफ़ करने की शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। इससे उसे इस बात का ख़याल रहेगा कि डिब्बों को ठीक-ठीक न रखने से अथवा ठीक तौर पर इस्तैमाल न करने से कितनी मिहनत बढ़ जाती है। वह यह भी जान सकेगा कि मेहतर समाज की कितनी सेवा कर रहे हैं। और यह भी समझ जायगा कि पाखाना साफ करने में नफरत आने की कोई वजह नहीं

है एवं भंगी की कठिनाइयों का कारण इस क्रिया की ही मलिनता नहीं, वल्कि उसके इस्तेमाल करने के तरीक़े के विषय में हमारी लापरवाही है।

९. मनुष्य के मल-मूत्र की तरह ही पशुओं के मल-मूत्र का भी उपयोग खाद के रूप में ही करना चाहिए। गोवर के कण्डे वनाना मानों चलनी नोट को जला कर तापना है। पशुओं के मूत्र का कुछ भी उपयोग नहीं किया जाता, इससे वह आर्थिक और आरोग्य दोनों दृष्टियों से हानिकर होता है।

५] :: [जलाशय

१. तालाव, कुँए और नदियों का पानी वहुत साफ रखने की ओर ग्राम-पंचायतों और ग्राम-सेवकों को खूव ध्यान देना चाहिए।

२. आज तो जलाशयों की स्थिति वहुत शोचनीय है। तालाव में ही वरतन साफ किये जाते हैं, नहाते-धोते हैं, मवेशी भी उन्हीं में नहाते हैं, पड़े रहते हैं और पानी भी पीते हैं; बच्चे और वड़े लोग भी उसी में आवदस्त लेते हैं। उसके आस-पास की जमीन पर तो मल-त्याग करते ही हैं और यही पानी पीने और रसोई वनाने के काम में लाया जाता है—यह सब पाप माना और वन्द किया जाना चाहिए।

३. गाँव के तालाव को इस तरह वाँध लेना चाहिए कि जिससे मवेशी उसमें न जा सकें और उसकी ढेल—वा वच्चा—वैसी

होना चाहिए जैसी कि तालाब के पास वाले कुँओं की होती है।

४. इसी तरह कपड़े धोने के लिए तालाब के पास एक टंकी होना चाहिए और उसके नजदीक ऐसा पक्का थाला बना देना चाहिए जिससे वह पानी फिर तालाब में न पहुँचने पावे और पानी को दूर ले जाकर छोड़ना चाहिए।

५. इस ठेल तथा टंको को रोज गाँव के लोग यदि हाथों-हाथ भर डालें तो अच्छा ही है, वर्ना थोड़े खर्च से उनके भराने की व्यवस्था होनी चाहिए।

६. जूठे बरतन तालाब या कुएँ में न माँजने, न धोने चाहिए—बल्कि बाहर की टंकी में माँज-धोकर फिर जलाशय में उन्हें डुबोना चाहिए।

७. तालाब में ऐसी सुविधा होनी चाहिए कि पानी भरने वाले को अपने पाँव पानी में न डुबोने पड़ें।

८. जिस गाँव में एक ही तालाब हो वहाँ तालाब के अन्दर नहाना न चाहिए। जहाँ तालाब अधिक हों वहाँ पीने का तालाब अलहदा रखना चाहिए।

९. कुवों की बार-बार मिट्टी निकलवाकर साफ़ रखना चाहिए। उसके आस-पास मुँडेरे होना चाहिए और कीचड़ न होने देना चाहिए। इसके लिए उसका थाला पक्का बनाना चाहिए और पानी को इस तरह दूर ले जाने का प्रबंध करना चाहिए जिससे वह फिर जमीन में पैठ कर कुँवे में न चला जाय।

१०. इस तरह पानी को दूर ले जाने के लिए घर, कुएँ आदि के सामने जो नालियाँ बनाई जाती हैं उनमें हरियाली और घास-फूस जम जाता है। उसमें से बदबू निकलती है और मच्छरों को बढ़ने का स्थान मिलता है। इसलिए इन नालियों की सफाई की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए तथा उन्हें रोज झाड़ू से घिस कर साफ करना चाहिए।

६] : : [बीमारियाँ

१. रोग और रोग के बाहरी लक्षणों में भेद होता है और उसे समझ लेना चाहिए।

२. सिर दर्द करना, बुखार आना, दम उठना, ये बीमारियाँ नहीं हैं; बल्कि शरीर में पैदा हुए जहरों या रोगों के बाहरी परिणाम हैं।

३. प्राणियों के लहू में ऐसे परोपकारी जन्तु भरे रहते हैं कि वे शरीर में पैदा होने वाले जहरों को निकाल डालने के लिए बड़े जोरों से कोशिश करते रहते हैं। यह जोरों की कोशिश ही बुखार, दम इत्यादि के रूप में प्रकट होती है।

४. जिन कारणों से ये जहर पैदा हुए हों या होते रहते हों, वही सच्चा रोग है। बुखार वगैरह तो बाहरी चिन्ह मात्र हैं।

५. गिर पड़ना, चोट लगना आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न रोगों को छोड़ दें तो आमतौर पर यह कह सकते हैं कि प्रत्येक रोग का कारण है असंयत जीवन।

६. खाने-पीने में, विषयोपभोग में, नींद-जागरण, आलस्य, अतिश्रम, तथा नाटक-सिनेमा इत्यादि विलासों में असंयम—यही रोगों का मुख्य कारण है।

७. ये असंयम चाहे अज्ञान से हों, चाहे भूल से हों, चाहे बदर्जे मजबूरी हों, या जानबूझकर होते हों, सबका परिणाम शरीर को रोग के रूप में भोगना पड़ता है।

८. ये कारण मौजूद हों और फिर यदि उसमें गंदी हवा, गंदा पानी और दूसरी गंदगी आ मिले तो बीमारी पैदा हो जाती है।

९. ऐसा देखा जाता है कि जो स्वच्छ और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें छूत के रोगियों में रहते हुए भी रोग पैदा नहीं होते। इससे ज़ाहिर होता है कि मनुष्य के लहू में बाहरी जहरों को हटाने की बहुत ताकत होती है। जब असंयम के कारण यह बल हट जाता है तभी छूत के रोग लग जाते हैं।

१०. रोग के कारणों को रोकना यह पहला इलाज है। इन इलाज में भी पहला उपाय है संयमपूर्वक, निश्चित और काफ़ी आहार-विहार तथा पूरा परिश्रम और नींद, एवं स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, तथा कपड़े, घर आँगन, गलियों की स्वच्छता।

१. शरीर में अस्वस्थता मालूम होते ही रोग को रोकने का उपाय करना, यह प्रारम्भिक इलाज है।

२. इलाज यदि ठीक ठीक हो तो रोग बहुतांश में क़ुदरती तौर पर दूर हो जाते हैं। दवायें लेना तो बहुतांश में फ़ज़ूल और हानिकर भी होता है।

३. आहार-विहार की भूलों को दूर किये बिना, सिर्फ़ हवा-पानी के सुधार से रोग दूर करने की इच्छा करना मानों साफ़ पानी से धोकर मैले तौलिये से पोंछना है। और इन दोनों के सुधार के बिना सिर्फ दवा के बल पर आराम पाने की इच्छा करना मानों मैले कपड़े को काला रंग कर साफ-सफ़ेद हो जाने की कल्पना कर लेना है।

४. दवा के अलावा और भी वैज्ञानिक इलाज हैं जिनका ज्ञान हरेक को होना चाहिए। ये आसान हैं और बिना खर्चे के किये जा सकते हैं।

५. यह ख़्याल ग़लत है कि प्रत्येक गाँव में एक अस्पताल होना चाहिए। हाँ, बहुतेरे गाँवों के लिए एक औषधालय या अस्पताल हो तो बस है। गाँव के औषधालय का मतलब तो आमतौर पर ग्राम-सेवक के उपचार ही होना चाहिए।

६. सबसे अच्छा इलाज है उपवास तथा उसके साथ ही कटि-स्नान और सूर्य-स्नान। इसकी आवश्यक विधियों का ज्ञान स्वयंसेवक को प्राप्त कर लेना चाहिए। *

---

* इस विषय में गाँधीजी की 'आरोग्य रक्षा' पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए।

७. इसके अलावा भीगी मिट्टी की भीगी पट्टी बांधने से बहुतेरे रोग और बुखार मिट जाते हैं। बुखार तेज हो, सिर दर्द करता हो, पेट या पेड़ू में दर्द हो, चोट से या दूसरे कारण से कहीं वरम आगया हो, नकसीर फूटी हो, खुजली, खस इत्यादि चर्म-रोग हुए हों, कब्ज रहता हो, नींद अच्छी न आती हो, जहरीले जन्तुओं ने डंक मारा हो तो इन सबके ऊपर दर्द की जगह बिना कंकरी की बारीक मिट्टी भिगोकर उसकी पट्टी बाँधना बहुत अक्सीर और कुदरती इलाज है। एक पट्टी जब सूख जाय तो दूसरी पट्टी चढ़ा देना चाहिए।

८. फोड़ा पकाना हो, साँस लेने में रुकावट पड़ती हो, थकावट या सरदी से टीस उठती हो तब गरम पानी में रुमालों भिगोकर निचोड़ कर फिर उससे हलके-हलके सेंकने से बहुत आराम मिलता है। रेती, मिट्टी या ईंट को गरम करके कपड़े में लपेट कर भी धीरे-धीरे सेंक की जा सकती है।

९. किसी के बीमार होते ही फौरन् उसका बिछौना दूसरे लोग से अलहदा कर देना चाहिए। उसके आस-पास से मनुष्यों की और सामान आदि की भीड़ हटा देना चाहिए। उसे इस तरह लिटाना चाहिए कि जिससे काफ़ी प्रकाश और हवा मिल सके। हवा का सीधा झोंका बीमार को न लगने देना चाहिए। उसके कपड़े, चद्दर, ओढ़ना आदि साफ-सुथरा रखना चाहिए। उसके कम्बल, बिछौना, तकिया आदि को बार-बार कड़ी धूप में रखना चाहिए।

१०. बीमार को दवा देने की अपेक्षा उसके शरीर, मन और पेट को आराम देने की बहुत जरूरत है। इनमें से पेट को आराम देने की तरफ बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

११. बीमार कोई भी हो शायद ही ऐसा होता हो कि उसका पेट बिगड़ा हुआ न हो। इसलिए उसके पेट को हलका करना उपचारक का पहला काम है। इसके लिए सबसे पहले बस्ती (एनिमा) देना चाहिए और यदि बुखार जोर का न हो तो एकाध जुलाब भी दे सकते हैं। इसके साथ ही एक या दो लंघन कराने में किसी प्रकार की हानि नहीं है। यदि बीमार बहुत कमजोर हो तो उसे अधिक उपवास कराये जायँ या नहीं, इसके लिए किसी अनुभवी की सलाह ले लेना आवश्यक है। ऐसे सलाहकार मिलें या न मिलें परन्तु इतनी बात तो अच्छी तरह समझ ही लेना चाहिए कि जिस समय बीमार का खून रोग के कीटाणुओं से लड़ रहा हो उस समय भोजन पचाने का बोझा उसपर न पड़ने देना चाहिए, और इस कारण, यदि उसे कुछ खिलाना आवश्यक ही हो तो बहुत हलका, सिर्फ प्राण टिका रखने लायक ही, देना चाहिए।

१२. गाय या बकरी का दूध ऐसी हलकी खुराक हो सकती है। १० से २० तोला दूध बीमारी में, प्राण टिका रखने लायक, समझा जा सकता है।

१३. परन्तु बीमारी में तथा लंघन में रोगी को साफ पानी काफी मात्रा में पिलाना चाहिए। पानी के साथ सोडा-बाई-कार्ब

और थोड़ा नमक देना अच्छा है। खट्टा नींबू भी आमतौर पर दिया जा सकता है और जूड़ी आदि में जब उलटी होती हो, या सिर दर्द करता हो तो नींबू जरूर देना चाहिए।

१४. फ़सली बुखार में, सम्भव है कि कुनैन भी देना पड़े। परन्तु यदि पूर्वोक्त बातों का एहतियात रक्खा जाय तो उतनी मात्रा नहीं देना पड़ती जितनी आमतौर पर डाक्टर लोग देते हैं। कुनैन को नींबू के रस में थोड़ा सोडा मिलाकर लेने से अधिक नुकसान होने की संभावना नहीं है।

१५. बुखार बहुत तेज हो और उसे जल्दी उतारना अभीष्ट हो तो भीगी चादर का उपाय किया जा सकता है। 'आरोग्य-रक्षा' पढ़कर इस उपाय को जान लेना चाहिए।

१६. मियादी बुखार न हो, परन्तु बहुत दिन टिक गया हो तो समझना चाहिए आब-हवा बदलने की जरूरत है और बीमार को दूसरे प्रकार की आब-हवा में ले जाना चाहिए। यह कोई जरूरी बात नहीं है कि ऐसी ही जगहों में ले जावें जो आरोग्य-वर्धन के लिए प्रसिद्ध हों।

१७. ऊपर जो उपाय बताया गया है वह तो तुरंत की बीमारी के लिए है। परन्तु पुराने और गहरे रोगों का भी जैसे कि क्षय, कोढ़, रक्त पित्त, आदि का इन तरीकों से इलाज किया जा सकता है; परन्तु इसके लिए अनुभवी की सलाह लेने और धीरज रखने की जरूरत है।

१८. दवाओं पर आधार रखने की आदत बुरी है। यह कहने

में कोई अत्युक्ति नहीं है कि पुराने रोग तो दवा से मिटते ही नहीं।

१९. डाक्टरों को चाहिए कि वे रोगियों को सादे और मामूली उपचार बताया करें। उन्हें दवा पर उनका विश्वास न बैठाना चाहिए।

२०. डाक्टर की दवा पर बहुत बार वैसा ही अन्ध-विश्वास होता है जैसा कि जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि पर होता है। वास्तव में तो बीमार के खून में रहने वाली क़ुदरती जीवनी-शक्ति ही उसे नीरोग करती है। यदि वह शक्ति कमजोर न पड़े तो रोगी बच जाता है। उसे कमजोर न होने देने के लिए पूर्वोक्त उपचार काफी हैं। इनके उपरान्त भी वह न बचे तो समझना चाहिए कि उसकी उम्र खतम हो चुकी थी। डाक्टरों और जन्त्र-मन्त्र वालों के पीछे रुपया बर-बाद न करना चाहिए।

२१. ग्राम-सेवक के लिए सोडा-बाई-कार्ब, रेंडी का तेल, कुनैन और ऊपर लगाने के लिए आयोरीन से अधिक दवायें रखने की जरूरत नहीं है। इसके अलावा यदि बस्ती (एनिमा) का साधन उसके पास हो तो बस उसका औषधालय पूर्ण समझना चाहिए।

८] :: [आहार

१. मांसाहार की मनुष्य के लिए कोई आवश्यकता नहीं है।

२. यह खयाल गलत और निराधार है कि मांसाहार छोड़ देने

से ही हिन्दुओं का पतन हुआ है; क्योंकि हिन्दू राजाओं और सैनिक जातियों ने बहुत समय तक मांसाहार छोड़ दिया हो, ऐसा जाना नहीं जाता।

३. यह मानने का कोई कारण नहीं है कि लोग मांसाहार न करेंगे तो वे पूरे तौर पर सशक्त, नीरोग और बहादुर न हो सकेंगे।

४. निरामिषाहार का समर्थन करते हुए भी मांसाहारी से घृणा करना उचित नहीं है। हिन्दुस्तान में बहुतेरी जातियों को तो महज़ ग़रीबी के कारण ही मांसाहार करना पड़ता है।

५. दूध भी एक तरह का मांस ही है। फिर भी उसमें फ़र्क़ यह है कि उसे प्राप्त करने के लिए प्राणी-वध रूपी हिंसा नहीं करनी पड़ती। चित्तशुद्धि के लिए दूध का उपयोग विघ्न-कारक है।

६. परन्तु, निरामिष-भोजी हिन्दू-जाति के लिए कोई वानस्पतिक पदार्थ जो काफी पुष्टि-वर्द्धक हो, दूध के बदले में बताया नहीं जा सकता। इसकारण दूध के लिए अपवाद किये बिना छुटकारा नहीं है—यही नहीं, बल्कि ऐसी तजवीज़ करने की आवश्यकता है कि दूध सबको मिल सके।

७. निरामिषाहार में वन के पके फल अथवा बिना पकाया अन्न सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि वह प्रकृति का पैदा किया हुआ है। दूसरे सब प्राणी क़ुदरत का तैयार किया आहार मूल-रूप में ही खाते हैं। इसमें मनुष्य के लिए अपवाद होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

८. फिर भी इस प्राकृतिक स्थिति में से गिरकर हम पकाने की ऐसी जंजाल में पड़ गये हैं कि मनुष्य-जाति का बड़ा भाग अब केवल प्राकृतिक भोजन पर जीवन-निर्वाह करने के अयोग्य हो गया है और ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि जो भोजन स्वाभाविक तौर पर हमें खाना चाहिए वह अब बिना विशेषज्ञ अन्न-शास्त्री की सलाह के लिया नहीं जा सकता।

९. इसलिए पकाना बहुतों के लिए अनिवार्य हो रहा है। फिर भी पकाने का अर्थ सिर्फ उबालना, भूनना, सेंक लेना—इतना ही है। परन्तु मनुष्य यहीं तक नहीं रुका। पकाने की क्रिया को सभ्यता (?) अंगीकार करने के बाद वह जीभ के अनुरंजन में फँसा और तरह-तरह के मसाले और पक्वान्नों की जातियों का आविष्कार कर डाला! शरीर का निर्वाह-भर करने के लिए सिर्फ दवा के तौर पर लेने के लिए जिसकी जरूरत समझी जानी चाहिए थी, वह बात जीवन का एक महत्वपूर्ण व्यवसाय बन बैठी है और उसके लिए जीवन का कितना समय और कितनी शक्ति फजूल बरबाद होती है!!

१०. आरोग्य की दृष्टि से, विकारों की दृष्टि से और समय की दृष्टि से भी मसालों और तरह तरह के भोजन-पदार्थों का उपयोग दोषयुक्त और त्याज्य है।

११. साग-तरकारी और फल अभी हम भारत में जितना खाते हैं उससे अधिक खाने की आवश्यकता है।

१२. चाय और काफ़ी ये बिलकुल नये व्यसन हैं। ऐसे किसी पेय की हम लोगों को आदत नहीं थी। इन पेयों से कोई लाभ भी नहीं हुआ है। बल्कि ये दोनों हानि-कारक पदार्थ हैं। चाय की खेती में मानव-हिंसा बहुत होती है। इन पेयों ने ख्वामख़्वाह ही हमारा भोजन-ख़र्च बढ़ा रक्खा है। इसके बदौलत देहात में दूध रहने नहीं पाता। और शक्कर के उपयोग में हानि-कारक वृद्धि हुई है।

१३. कितने ही विद्वानों का मत है कि चाय, काफ़ी, तमाखू, भाँग, गाँजा, अफीम आदि के व्यसनों में जो लिप्त हैं वे यदि यह दावा करें कि हम स्थिरवीर्य हैं तो यह नहीं माना जा सकता।

६] : : [व्यायाम

१. बचपन से ही जिसे पूरा शारीरिक श्रम करना पड़ता है उसके लिए अखाड़े की कसरतों की शायद ही जरूरत रहती हो।

२. अखाड़े की कसरतें खासकरके उन्हीं लोगों के लिए हैं जो बैठे-बिठाये धन्धा करते हैं, या जो सिपाहीगिरी करते हैं, अथवा उदर-निर्वाह के लिए पहलवानी का पेशा करते हैं।

३. अखाड़े की कसरतों से मनुष्य दीर्घायु और नीरोगी, अथवा बहादुर और श्रम-सहिष्णु अवश्य बनते हैं—ऐसा अनुभव नहीं देखा जाता। ऐसे बहुत से कसरती लोग देखे जाते हैं

जो शरीर से पहलवान होते हुए भी हृदय से कायर हैं और जो कसरत के अलावा दूसरे शारीरिक श्रम तथा सर्दी-गर्मी के प्रभावों से ढीले हो जाते हैं।

४. अखाड़े की कसरतें विकारवर्द्धक भी हैं; क्योंकि उनके फल-स्वरूप आमतौर पर शरीर में गरमी बढ़ती है और भोजन तथा भोग-शक्ति को वेग मिलता है।

५. फिर भी अखाड़े की कसरतों के बिलकुल निषेध करने का अभिप्राय यहाँ नहीं है। दूसरे व्यायामों की तरह उनके लिए भी मर्यादित स्थान है।

६. संघव्यायाम—क़वायद—अति उपयोगी तालीम है और वह सब युवक-युवतियों के लिए आवश्यक है।

७. सात्विक कसरतों में, तन्दुरुस्ती के लिए महत्वपूर्ण व्यायाम है घूमना। इसे व्यायामों का राजा कहें तो यथार्थ है।

८. इसके उपरान्त आसन और प्राणायाम भी सात्विक व्यायाम माने जा सकते हैं, क्योंकि इन व्यायामों का प्रधान उद्देश शरीर को भोगी बनाना नहीं, बल्कि शुद्ध बनाना है। इनसे कितनी ही बीमारियाँ भी दूर होती हैं।

९. परन्तु इन व्यायामों को भी जीवन का व्यवसाय बना डालना और उनसे मानी जानेवाली सिद्धियों के पीछे पड़ना इनका दुरुपयोग करना है। जिस तरह मलमूत्र द्वारा शरीर में संचित अशुद्धियों को निकाल डाला जाता है उसी तरह आसन और प्राणायाम द्वारा भी कितने ही दोषों को निकाल डालना इन व्यायामों का हेतु है।

शिक्षा

१. शिक्षा का ध्येय

२. अराष्ट्रीय शिक्षा

३. राष्ट्रीय शिक्षा

४. औद्योगिक शिक्षा

५. बालशिक्षा

६. ग्राम-शिक्षा

७. स्त्री-शिक्षा

८. धार्मिक शिक्षा

९. शिक्षा का माध्यम

१०. अंग्रेजी भाषा

११. भाषा-ज्ञान

१२. राष्ट्र भाषा

१३. इतिहास

१४. शिक्षा के अन्य विषय

१५. शिक्षक

१६. विद्यार्थी

१७. छात्रालय

१] : : [शिक्षा का ध्येय

१. सा विद्या या विमुक्तये। जो मुक्ति के योग्य वनाती है वह है विद्या; शेष सब अविद्या है।

२. इस कारण जो शिक्षा चित्त की शुद्धि न करती हो, मन और इन्द्रियों को वश में रखना न सिखाती हो, निर्भयता और स्वावलंबन न पैदा करे, उपजीविका का साधन न वतावे और गुलामी में छूटने का और आजाद रहने का हौंसला, साहस और सामर्थ्य न पैदा करे, उसमें चाहे जानकारी का खजाना कितना ही भरा हो, कितनी ही तार्किक कुशलता और भाषा-पाण्डित्य हो, वह वास्तविक नहीं, अधूरी है।

२] : : [अराष्ट्रीय शिक्षा

१. ८०-८५ फीसदी लोगों के जीवन की आवश्यकताओं का विचार करने के बजाय मुट्ठीभर लोगों की अथवा राज्य के कुछ विभागों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जो शिक्षा दी जाती हो उसे राष्ट्रीय शिक्षा हरगिज नहीं कह सकते। वह गलत शिक्षा है—और इसलिए उसे अविद्या ही कहना चाहिए।

२. ऐसी शिक्षा ने शिक्षित और अशिक्षित लोगों में बड़ी खाई

पैदा कर दी है, और विद्वानों को लोगों के अगुआ, पथ-दर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बदले जनता से अलग रख-कर ऐसा बना दिया है कि न वे उनके जीवन और भाव-नाओं को समझ सकते हैं, न उनमें दिलचस्पी ले सकते हैं और न उनका पक्ष उपस्थित करने की योग्यता ही रखते हैं।

३. इस शिक्षा ने अपना महत्व बढ़ाने के लिए भव्य भवनों, महान् साधनों, प्रचुर पुस्तकों, मृगतृष्णा की तरह दूर से लुभाने वाले लाभों की आशाओं और चटक-मटक आदि का बड़ा आडम्बर रचकर लोगों को कर्ज में डुबो दिया है।

४. इस शिक्षा ने लोगों के अन्दर अनेक वहम पैदा कर दिये हैं—जैसे कि अक्षर ज्ञान अर्थात् पुस्तकी शिक्षा और शिक्षा दोनों एक ही चीज हैं, और उसके बिना शिक्षा मिल ही नहीं सकती; शिक्षित मनुष्य का, मजूरों का जीवन बिताना, अपने हाथों से काम करना अपनी शिक्षा को लज्जित करना है; 'शिक्षित' मनुष्य का मतलब है अंग्रेजी पढ़ा हुआ, आदि।

५. इस शिक्षा ने लोगों को धर्म से विमुख कर दिया है और धर्म तथा संयम के उन संस्कारों को, जो सदियों से संगृ-हीत थे, मिटाने का ही काम किया है।

६. चित्त-शुद्धि के महत्वपूर्ण अंग—ईश्वर, गुरु, बड़े-बूढ़ों की भक्ति, नीतिमय जीवन के लिए आग्रह, और संयम तथा तप में श्रद्धा—इन विषयों में, इस शिक्षा ने, पढ़े-लिखों को सशंक और नास्तिक बनाने की दिशा में यत्न किया है।

७. यदि कुछ लोग पूर्वोक्त परिणामों से बच गये हैं तो उसका श्रेय इस शिक्षा को नहीं, बल्कि उनके घर के वातावरण को ही है।

८. इस शिक्षा ने भोग और सम्पत्ति में इतनी श्रद्धा बैठा दी है कि उन्हें कम करने के डर से ही शिक्षित लोग पस्त-हिम्मत हो जाते हैं और जो स्पष्टरूप से धर्म दिखाई देता है उसका आचरण करने में असमर्थता प्रदर्शित करते हैं।

३] : : [राष्ट्रीय शिक्षा

१. भारत की राष्ट्रीय शिक्षा की रचना इस विचार पर होनी चाहिए कि भारत के ८०-८५ फीसदी लोग किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं।

२. भारत के ८०-८५ फी सदी लोग प्रत्यक्ष या गौण रूप से खेती पर जीविका चलाते हैं। इसलिए उनकी शिक्षा की योजना इस दृष्टि से होना चाहिए कि जिससे वे अच्छे किसान बन सकें और खेती से संलग्न धन्धों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

३. शिक्षा के फल-स्वरूप जीविका का प्रश्न हल हो जाना चाहिए—अतएव औद्योगिक शिक्षा शिक्षा का प्रधान अंग होना चाहिए।

४. जबतक शिक्षा के द्वारा जीविका का प्रश्न नहीं हल होता तबतक संस्कृति और ईश्वर-ज्ञान देनेवाली शिक्षा की बातें फजूल हैं।

५. ऐसी शिक्षा या तो खेतों में या देहात में ही दी जा सकती

है—क़स्बों में या शहरों में नहीं।

६. और यदि शिक्षा के लिए लिखना-पढ़ना जानना आवश्यक ही हो तो फिर भारत की करोड़ों जनता को शिक्षित बनने के लिए बीसों साल चाहिए।

७. परन्तु अक्षर-ज्ञान का (पढने-लिखने के ज्ञान का) विरोध न करते हुए भी कहना चाहिए, कि शिक्षा विना इसके भी दी जा सकती है और दी जानी चाहिए।

८. लिखने-पढ़ने का ज्ञान न होते हुए भी मनुष्य गिन्ती सीख सकता है, अपने उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और वर जबान कर सकता है एवं अधिक सामर्थ्यवान् हो तो साहित्य की सृष्टि भी कर सकता है। इसके अलावा यदि उसमें सत्य की लगन हो तो वह ईश्वर-ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है।

९. हमारे सैकड़ों शिक्षित मनुष्यों का ज्ञान-भाण्डार, अनेक पुस्तकों के पढ़ चुकने पर भी, इतना थोड़ा होता है कि इतना भाण्डार प्राप्त करने के लिए लाखों लोगों को लिखना-पढ़ना सीखने की झंझट में डालने के वजाय यदि वे उन्हें जबानी शिक्षा देने लगें तो यह अनुभव होगा कि बहुतेरे वर्षों में मिलनेवाली शिक्षा थोड़े समय में मिल गई।

१०. फिर भारतवर्ष की शिक्षा-पद्धति विना टके-पैसे की होनी चाहिए।

११. अतएव इस शिक्षा के थोड़े वर्ष में पूर्ण होने का मोह हमें

न रखना चाहिए। उद्योग करते हुए और आजीविका प्राप्त करते-करते भी यह शिक्षा जन्मभर चल सकती है।

१२. इस शिक्षा में पुस्तकों पर कम से कम आधार रक्खा जायगा। इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तकें रहेंगी ही नहीं; परन्तु वाचन की अपेक्षा श्रवण, दर्शन और क्रिया के द्वारा वह प्रधान रूप से दी जायगी।

४] : : [औद्योगिक शिक्षा

१. शिक्षा का प्रारम्भ अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि औद्योगिक शिक्षा से होना चाहिए। ऐसे धन्धों का ज्ञान जिनसे जीवन-निर्वाह हो सके, बच्चे को लड़कपन से ही देना चाहिए।

२. खेती और वस्त्र ये दो भारत के राष्ट्रीय उद्योग हैं। अतएव प्रत्येक पाठशाला में इन दो धन्धों की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

३. इन दो उद्योगों का प्रारम्भिक ज्ञान सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए। क्योंकि जो इनके द्वारा जीविका उपार्जन करना नहीं चाहते हैं उनके लिए भी इन्द्रियों की शिक्षा की दृष्टि से इनका ज्ञान महत्वपूर्ण है।

४. बढ़ई, लुहार, रंगरेज आदि के धन्धे खेती और वस्त्र-उद्योगों के सहायक हैं और उनके बलपर चलते हैं। इसलिए प्रत्येक किसान और बुनकर को इनकी भी तालीम मिलनी चाहिए।

१. बालकों की शिक्षा का श्रीगणेश अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि सफ़ाई की शिक्षा से होना चाहिए।

२. बालक का शिक्षक (बल्कि शिक्षिका) उसे वर्णमाला सिखाने की जल्दी न करे; बल्कि अपने हाथ, पाँव, नाक, आँख, दांत, नख आदि को साफ रखना सिखावे। उन्हें नहाना, कपड़े धोना तथा रूमाल से नाक वगैरा साफ करना बतावे।

३. इसके बाद वह बच्चे के हाथ में तकली और चरखा देदेगा और कातने तक की सब क्रियायें उसे धीरज के साथ बतावेगा और उनका रफ़्त करा देगा।

४. फिर जबतक वे लिखना-पढ़ना न सीखें तबतक उन्हें अज्ञान में न रक्खेगा; बल्कि कहानियों द्वारा इतिहास-भूगोल का, कथाओं और भजनों के द्वारा धर्म का, प्रत्यक्ष अवलोकन से पदार्थ विज्ञान का, वनस्पतियों और भूमि तथा आकाश का ज्ञान करावेगा एवं प्रत्यक्ष पदार्थों से गणित में प्रवेश करावेगा—और इस तरह लिखना-पढ़ना जानने के पहले उसे इतना ज्ञान करा देगा जो ३-४ पुस्तकें पढ़ने तक आ सकता है।

५. इसके अलावा वह अक्षर लिखना सिखाने के पहले उन्हें चित्र और गोलाई खींचना तथा अपने विचारों को चित्रों-आकृतियों के द्वारा प्रदर्शित करना सिखावेगा।

६. अनेक भजन, श्लोक, कवितायें उसे कंठाग्र कराके उच्चार-शुद्धि करलेगा और तरह-तरह का साहित्य उसे जबानी करा देगा।

७. फिर वह उसे सुन्दर और स्पष्ट अक्षर लिखना सिखावेगा। इतनी देर के बाद अक्षर लिखना सिखाने से उसका नुकसान नहीं हुआ है, यह अनुभव होगा।

६] :: [ग्राम-शिक्षा

१. इस वहम को दिमाग़ में से निकाल डालने की जरूरत है कि देहात के और बड़ी उम्र के सब लोग तभी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं जब उन्हें लिखना-पढ़ना अर्थात् अक्षर-ज्ञान आ जाय।

२. हाँ, जिन्हें सामर्थ्य और उत्साह हो उन्हें अक्षर-ज्ञान देना तो ठीक है—और उन्हें प्रोत्साहन भी देना चाहिए, परन्तु अधिकांश बड़ी उम्र वालों को लिखने-पढ़ने में दिलचस्पी पैदा होना कठिन है। सो ऐसा न होना चाहिए कि ये लोग बड़ी उम्रवालों के मदरसों में आ ही न सकें।

३. देहात का पुस्तक-भाण्डार एक सीमा में ही रहेगा और देहातियों की पुस्तक खरीदने की शक्ति तो उससे भी कम होगी—इसलिए, थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सीख लेने पर वे अपने-आप अपनी ज्ञान-वृद्धि करते रहेंगे, ऐसा अनुभव नहीं होता।

४. इसलिए जो लोग शिक्षित हैं वे यदि दूसरों को पढ़-पढ़कर

सुनावें और समझावें तो देहात में एक पढ़े-लिखे के लिए ज्ञान-वृद्धि जितनी सम्भवनीय है उतनी बे-पढ़े के लिए भी हो सकती है।

५. यह बात नहीं कि लिखने-पढ़ने से समझने की शक्ति अवश्य बढ़ती है। बहुत बार तो एक बुद्धिमान देहाती सुन-सुनाकर जितना ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह पढ़े-लिखे के ज्ञान से भी अधिक होता है।

६. ज्ञान का मूल स्रोत पुस्तकों में नहीं है, बल्कि अवलोकन, अनुभव और विचार-शक्ति में है—इस बात को भूल जाने से हम पुस्तकों के ज्ञान पर बहुत अधिक जोर देते हैं।

७] : : [स्त्री-शिक्षा

१. पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी शिक्षा पाने का पूरा अधिकार है। और जिस प्रकार पुरुष को शिक्षा प्राप्त करने की अनुकूलता होती है उसी प्रकार स्त्रियों को भी होना चाहिए।

२. यह संस्कार निर्मूल कर देने योग्य है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री का दरजा और अधिकार कम है।

३. पुरुषों की तरह शिक्षा प्राप्त करने में स्त्रियों के लिए कोई रुकावट न होनी चाहिए; फिर भी ९० फीसदी स्त्रियों को मातृपद प्राप्त करना पड़ता है—इस बात को ध्यान में रखकर स्त्री-शिक्षा की आयोजना होनी चाहिए।

४. इसका यह अर्थ हुआ कि उन स्त्रियों को भी, जो मातृपद

को न ग्रहण करना चाहती हों मातृपद-सम्बन्धी शिक्षा उसी प्रकार दी जानी चाहिए जिस प्रकार किसानों या बुनकरों को भी ८५ फीसदी लोगों के धन्धों का साधारण ज्ञान होना चाहिए ।

८] : : [धार्मिक शिक्षा

१. धार्मिक शिक्षा से रहित शिक्षा शिक्षा शब्द के योग्य ही नहीं है ।

२. प्रत्येक बालक को उसके धर्म के मुख्य ग्रन्थों, महापुरुषों और संतों का तथा उस धर्म के मन्तव्यों का श्रद्धा-पूर्वक ज्ञान कराना चाहिए ।

३. यहां धर्म का अर्थ वैदिक, इस्लाम, ईसाई, यहूदी, पारसी, सिक्ख, जैन, बुद्ध इत्यादि मुख्य धर्म ही समझना चाहिए, उनके सम्प्रदाय या उपशाखा नहीं । सम्प्रदायों और उपशाखाओं के संस्कार तो उनकी अपनी संस्थायें ही डाल सकती हैं ।

४. बालक को अपने धर्म के अलावा दूसरे महान् धर्मों का भी समभाव—पूर्वक साधारण ज्ञान देने का यत्न करना चाहिए ।

५. मनुष्य को जिस प्रकार शरीर के लिए आहार और श्रम के लिए आराम की जरूरत है उसी प्रकार चित्त की उन्नति के लिए धर्म के आलम्बन की जरूरत है । प्रत्येक धर्म ऐसे

आलम्बन का काम देने में समर्थ है और इस कारण, किसी को धर्मान्तर करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक धर्म के मनुष्य-प्रचारित होने के कारण, उसमें कुछ-न-कुछ ख़राबी रहती ही है और आती भी रहती है। उसे बार-बार शुद्ध करने की जरूरत रहती है। फिर भी कोई धर्म सर्वथा त्याज्य नहीं होता। हमें ऐसी दृष्टि रखनी चाहिए कि जिससे धार्मिक शिक्षा के द्वारा ऐसे संस्कार निर्माण हों।

६. यों तो भिन्न-भिन्न मानव-समाजों में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति होने के कारण उनमें समाज-रचना, विधि-विधान तथा रूढ़ियों के परस्पर-विरोधी भेद दिखाई देते हैं—फिर भी प्रत्येक धर्म में इतनी बातें सामान्य-रूप से मिलती हैं— (१) सत्य रूपी परमेश्वर की शोध और उसका आलम्बन, (२) नीति-परायण तथा संयत जीवन, (३) दूसरों के लिए अपना क्षय करने की तथा स्वार्थ की अपेक्षा दूसरों के हित को साधने की भावना। इन संस्कारों का निरन्तर बड़े क्षेत्रों में विकास धार्मिक जीवन का विकास है। इसलिए धार्मिक शिक्षा में इन अंगों का महत्व समझकर बाह्य भेदों को गौण समझने का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए।

६] : : [शिक्षा का माध्यम

१. उच्च से उच्च शिक्षा तक के लिए शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही होना चाहिए।

२. अंग्रेजी-जैसी अत्यन्त विजातीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से शिक्षा प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला बहुतेरा परिश्रम व्यर्थ गया है और जाता है।

३. यह स्थिति कि अँग्रेजी के ज्ञान बिना उच्च शिक्षा प्राप्त की ही नहीं जा सकती, दयाजनक और लज्जापूर्ण है।

४. शिक्षा जो ग्रामों तक नहीं पहुँच सकी है उसका एक कारण यह भी है कि वह स्वभाषा के द्वारा नहीं दी गई है।

५. अँग्रेजी भाषा के शिक्षा के माध्यम बना दिये जाने से देशी भाषाओं की उन्नति नहीं हुई और शिक्षित पुरुषों की स्वभाषा-सेवा का प्रायः इतना ही अर्थ रह गया है कि अँग्रेजी भाषा के विचारों का अनुवाद संस्कृत या फ़ारसी में करके स्वभाषा के प्रत्यय लगा देना। इस कारण यह साहित्य आम लोगों में बहुत नहीं पहुँच सका है और न उनपर असर ही डाल सका है।

६. पर-भाषा के माध्यम का एक यह भी दुष्परिणाम हुआ है कि कितने ही शिक्षित लोग विचार भी अँग्रेजी में ही कर सकते हैं, स्वभाषा में नहीं। यह बड़ी खेद-जनक स्थिति है।

७. गुजरात विद्यापीठ जैसी छोटी-सी संस्था में भी गुजराती को शिक्षा का माध्यम बनाने से गुजराती भाषा की कितनी समृद्धि हुई है, यह पिछले कुछ वर्षों के साहित्य के इतिहास से जाना जाता है।

८. लोकमान्य ने मराठी भाषा के द्वारा ही अपने प्रान्त की

सेवा करने का जो निश्चय किया उसके कारण हुई मराठी भाषा की समृद्धि इस बात की अच्छी तरह गवाही देती है।

१०] : : [अंग्रेजी भाषा

१. अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी रहती है, इस वहम को दूर करने की जरूरत है।

२. अंग्रेजीदाँ लोगों का कर्तव्य है कि अंग्रेजी के विस्तृत साहित्य में से बढ़िया रत्नों को चुन-चुन कर अपनी-अपनी भाषा में पिरोवें। इन रत्नों का आनन्द प्राप्त करने के लिए लाखों लोगों को अंग्रेजी भाषा सीखने की झंझट में डालना क्रूरता नहीं तो क्या है?

३. हाँ, यह सच है कि व्यवहार में अंग्रेजी भाषा की जरूरत पड़ती है; परन्तु ऐसा व्यवहार तो सिर्फ मुट्ठीभर लोगों को ही करना पड़ता है। फिर उसका भी बहुतांश तो अकारण अथवा हमारी गुलामी के बदौलत ही अंग्रेजी में होता है। थोड़े से अंग्रेज अधिकारियों की सुविधा के लिए सारे देश पर अंग्रेजी सीखने का बोझ डालना, यह भी देश पर एक भारी कर का बोझ ही है जो कि ब्रिटिश राज्य को दिया जाता है।

४. अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य बनाकर ब्रिटिश राज्य ने अपने पाये मजबूत बनाये हैं, भारत को भाषा की गुलामी मंजूर कराके शरीर से ही नहीं, मन से भी गुलाम बना लिया है।

हथियार छीन कर जो हानि देश को पहुँचाई गई है उससे कुछ अधिक ही हानि अंग्रेजी लादने से हुई है।

५. अंग्रेजी-भाषा के ज्ञान के बिना देश के महत्वपूर्ण कार्यों और व्यवहारों में भाग ले ही नहीं सकते, इस तरह जो उसकी शिक्षा प्रायः अनिवार्य बना दी गई है उसके कारण शिक्षा-शास्त्र तथा राजनीति दोनों दृष्टियों से देश को बड़ी हानि पहुँची है।

६. हाँ, यह बात ठीक है कि यूरोप की विद्याएँ सीखने के लिए यूरोप की किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक है; परन्तु उसके लिए तो, आज की तरह, इतने वर्ष इतना समय लगाने और इतना परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए तो इतना ही ज्ञान बस है कि हम उस भाषा को समझ लें। आज तो अंग्रेजी भाषा के लेखन और उच्चारण पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए इतना भगीरथ प्रयत्न किया जाता है मानों वह हमारी ही मातृभाषा हो अथवा उससे भी बढ़कर हो। और फिर वर्षों के उद्योग के बाद भी बहुतेरे तो थोड़ा-बहुत ही आधिपत्य कर पाते हैं।

७. हम स्वभाषा या पड़ौसी प्रान्त की भाषा को शुद्ध न लिख सकें, न बोल सकें, इससे हमें शर्म नहीं आती; परन्तु अँग्रेजी भाषा की भूलों से शर्मिन्दा होते हैं अथवा ऐसी भूलें करने वालों का मजाक उड़ाते हैं—इससे जाहिर होता है कि अँग्रेजी भाषा ने हम पर कितना जादू चला दिया है। सच पूछा जाय तो अत्यन्त विजातीय भाषा होने के कारण,

अँग्रेजी के उच्चारण और लेखन में इससे गलतियाँ हों तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है ?

८. परन्तु इस जादू के बदौलत हम शिक्षा-काल में आधे या उससे भी अधिक वर्ष तो भाषा पर ही अधिकार करने में खर्च कर देते हैं। इस प्रकार विद्यार्थी के कितने ही श्रम और समय का दुर्व्यय होता है।

११] : : [भाषा-ज्ञान

१. व्यवस्थित शिक्षण में, जहाँ तक भाषाओं से सम्बन्ध है, सबसे प्रथम स्थान स्वभाषा को मिलना चाहिए। जबतक स्वभाषा में शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलना न आ जाय तबतक अँग्रेजी जैसी अत्यन्त विजातीय भाषा की शिक्षा आरंभ न करना चाहिए।

२. स्वभाषा के बाद दूसरा स्थान राष्ट्र भाषा को मिलना चाहिए। राष्ट्र-भाषा तो हमारी हिन्दुस्तानी ही है। इसके विषय में आगे और कहा जायगा।

३. तीसरा स्थान मूलभाषा को मिलेगा—अर्थात् हिन्दू विद्यार्थियों के लिए संस्कृत, मुसलमानों के लिए अरबी या फ़ारसी, पारसियों के लिए पहलवी इत्यादि। ये भाषायें स्वभाषा और स्वधर्म की मूलभूत होने के कारण उनका ज्ञान बहुत महत्व रखता है। और जो मनुष्य अच्छी शिक्षा प्राप्त करना चाहता है उसके लिए इनका साधारणतः अच्छा ज्ञान आवश्यक है।

४. जिनकी रुचि भाषाओं के अध्ययन करने की ओर है और जिनमें सामर्थ्य भी है, उनके लिए हिन्दुस्तान की कुछ प्रान्तीय भापाओं का सीखना आवश्यक है। खास करके द्राविड़ी भाषाओं में से किसी एक का अध्ययन करना उचित है। और कोई एक संस्कृत-मूलक भाषा भी होना चाहिए।

५. शिक्षा की दृष्टि से, अँग्रेजी का नंवर इनके वाद आता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्य अधिक आँकता हो तो स्वभाषा, राष्ट्र भाषा और मूल भापा के वाद भले ही इसे स्थान दिया जा सकता है।

१२] : : [राष्ट्र भाषा

१. हिन्दुस्तानी अर्थात् खड़ी बोली जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों मिश्रित रहती हैं—देहली-आगरा-लखनऊ में आम-तौर पर वोली जाने वाली भापा—हिन्दुस्तान की राष्ट्र भापा है। दक्षिण भारत को छोड़कर साधारणतः सारे भारत में यह सैकड़ों वर्षों से प्रचलित है।

२. शिक्षित मनुष्य को यह भापा अच्छी तरह वोलने, लिखने और पढ़ने में समर्थ होना चाहिए।

३. यह भाषा नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाती है। दोनों लिपियों का ज्ञान प्रत्येक के लिए आवश्यक है।

४. राष्ट्रभापा का अर्थ यह नहीं है कि प्रान्तीय भापाएँ गौण

बना दी जायँ बल्कि उसकी आवश्यकता तो राष्ट्रीय व्यवहार के लिए है। राष्ट्रभाषा का पद इसे नवीन नहीं मिला है; जो बात प्रचलित है उसी को हम अंगीकार कर रहे हैं।

१३] :: [इतिहास

१. इतिहास हमें गलत उद्देश से और गलत दृष्टि-बिन्दु से पढ़ाया जाता है। इस कारण इतिहास के रूप में जो घटनायें हमें पढ़ाई जाती हैं वे चाहे भले ही सच हों, फिर भी भूतकाल की स्थिति का उससे यथार्थ ज्ञान नहीं मिलता।

२. राज-वंशों की उथल-पुथल और युद्धों के वर्णनों को प्रजा का—राष्ट्र का—इतिहास नहीं कहते। फिर भारतवर्ष जैसे राष्ट्र का तो हरगिज़ नहीं। इसे तो उन फोड़ों का इतिहास कहना चाहिए जो प्रजा-शरीर पर कभी-कभी उठ आया करते हैं। युद्ध राष्ट्र-जीवन में नित्य-जीवन नहीं है, बल्कि उल्कापात है। उसके नित्य-जीवन में तो समझौता, भाई-चारा, परस्पर कष्टसहन-प्रियता और सहयोग होता है। परन्तु इनके द्वारा होने वाली प्रगति का वर्णन इतिहास बहुत गौण रूप में करता है। और इस कारण वह भूतकाल का भ्रमात्मक चित्र हमारे सामने खड़ा करता है।

३. यदि इस तरह से इतिहास की जाँच की जाय तो उसके नित्य व्यवहार में हिंसामय कलह की अपेक्षा अहिंसामय सत्याग्रह के प्रयोग अधिक दिखाई देंगे।

४. परन्तु इतिहास की वर्तमान शिक्षा में इतना ही दोष नहीं है। आज-कल तो इतिहास की शिक्षा जान-बूझ कर इस तरह दी जाती है कि जिससे ग़लत ख़याल पैदा हों, और इसलिए अँग्रेजों के आने के पहले के काल का चित्र बहुत बिगड़ा हुआ खींचा जाता है। एवं उसमें लड़कपन से ही ऐसी प्रेरणा की जाती है कि जिससे अँग्रेजी-राज्य के प्रति हमारी मोह-मूर्च्छा अक्षुण्ण बनी रहे। इसमें केवल असत्यता ही नहीं, अप्रामाणिकता भी है।

१४] : : [शिक्षा के अन्य विषय

१. संगीत की शिक्षा पर भारतवर्ष में बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। चित्त के भावों को जाग्रत करने के लिए संगीत बहुत अच्छा साधन है और इसतरह सात्विक संगीत आध्यात्मिक विकास में बड़ी आवश्यक सहायता करता है। बालक की इस महत्वपूर्ण प्राकृतिक शक्ति को सात्विक रीति से अवश्य सुसंस्कृत करना चाहिए।

२. कर्मेन्द्रियों के और समूहों के कार्यों में कवायद की तालीम के अभाव से अव्यवस्था, शक्ति का अधिक व्यय, शोर-गुल और गोलमाल, एवं बहुत जानोमाल की बरबादी भी होती है। क़वायद के ढंग से उठने की, चलने की, और काम करने की, और दस-पाँच आदमियों के एकत्र होते ही क़वायदी ढंग से सुव्यवस्थित हो काम करने की

आदत हमें पड़ जाना चाहिए। इस कारण क़वायद की तालीम की ओर पाठशालाओं में अच्छी तरह ध्यान दिया जाना चाहिए और बड़ी उम्र के लोगों को भी इसकी तालीम ले लेना चाहिए।

३. शस्त्रास्त्र का त्याग भारतवर्ष में जबरन् करवाया गया है—भारत के लोगों ने अपनी इच्छा से नहीं किया है। शस्त्र धारण करने का और सैनिक शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार लोगों को है। इसलिए इसकी तालीम भी शिक्षा का आवश्यक विषय है।

१५] : : [शिक्षक

१. यह विचार दोषयुक्त है कि शिक्षक सिर्फ़ अपने विषय में ही प्रवीण हो तो बस, चरित्र उसका कैसा भी हो तो हर्ज नहीं।

२. चरित्र-हीन परन्तु प्रवीण, शिक्षक से शिक्षा प्राप्त करके विद्यार्थी किसी विषय में प्रवीणता प्राप्त करे—इससे यह हज़ार गुना बेहतर है कि वह किसी चारित्र्यवान्, परन्तु कम प्रवीण, शिक्षक से कम विद्या प्राप्त करे।

३. जो शिक्षक अपना विषय पढ़ाने की ही अपनी जिम्मेवारी समझता है, चरित्र-विषयक जिम्मेवारी नहीं, उसे शिक्षक नहीं कह सकते।

४. आदर्श शिक्षक विद्यार्थी के अध्ययन में ही नहीं, बल्कि

उसके सारे जीवन में दिलचस्पी लेगा और उसके हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करेगा।

५. ऐसा शिक्षक विद्यार्थी को भयानक या यमराज जैसा नहीं प्रतीत होगा बल्कि पूज्य होते हुए भी माता से अधिक निकट मालूम होगा।

६. शिक्षक को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और अपने विषयों में ताजी से ताजी जानकारी प्राप्त करके तैयार होकर ही वर्ग में जाना चाहिए।

७. इसका यह अर्थ हुआ कि शिक्षक को विद्यार्थी से भी अधिक अच्छा विद्यार्थी-जीवन बिताना चाहिए और अध्ययन-रत रहना चाहिए।

८. पूरी तैयारी किये बिना वर्ग लेनेवाला शिक्षक विद्यार्थी का अमूल्य समय बिगाड़ता है।

९. शिक्षक को चाहिए कि वह पढ़ाने की अच्छी से अच्छी रीति की खोज करता रहे और प्रत्येक विद्यार्थी की खासियत को समझकर ऐसी विधि खोज निकाले जिससे उस विषय में उसकी गति और दिलचस्पी पैदा हो जाय। विद्यार्थियों को शंकायें पूछने का अवसर देकर उनका समाधान करना चाहिए।

१०. मारने, गाली देने, तिरस्कार करने, या और किसी सजा देने की मनाई शिक्षकों को होना चाहिए।

११. जो शिक्षक अपना काम भली-भाँति करना चाहेगा, वह बड़े वर्गों को अच्छी तरह न पढ़ा सकेगा—यह स्पष्ट ही है।

१२. सैकड़ों विद्यार्थियों की पाठशालाएँ भी वाञ्छनीय नहीं हैं।

१६] :: [विद्यार्थी

१. विद्या की शोभा विनय से है; यही नहीं, बल्कि विनय के विना विद्या प्राप्त भी नहीं होती।

२. विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति गुरुभाव अर्थात् श्रद्धा, विनय और सेवाभाव रखना चाहिए। यह श्रद्धा रखना चाहिए कि शिक्षक मेरे हित के लिए मुझे कहते हैं।

३. यदि यह निश्चय हो जाय कि शिक्षक ऐसी श्रद्धा के योग्य नहीं है, तो विनय को न छोड़कर ऐसे शिक्षक को ही छोड़ देना चाहिए।

४. विद्यार्थी को उचित है कि वह शिक्षकों से प्रश्न पूछ-पूछ कर अपनी शंकाओं का समाधान करता रहे।

५. विद्यार्थी को ऐसी अधीरता न दिखाना चाहिए मानों वह शिक्षक से उसका सारा ज्ञान आज ही पी लेना चाहता है। बात यह है कि जिस विद्यार्थी ने अपने विनय के द्वारा शिक्षक के मन को प्रसन्न कर दिया है वह तो खुद ही अपना सारा ज्ञान विद्यार्थी को दे देने के लिए अधीर हो जाता है। जबतक शिक्षक के मन की ऐसी स्थिति न हो तबतक विद्यार्थी को धीरज रखना चाहिए।

६. परन्तु जब शिक्षक ज्ञान की वृष्टि करने लगे तब विद्यार्थी को गाफिल रह कर वह मौका न गँवा देना चाहिए।

१७] :: [छात्रालय

१. छात्रालय का अर्थ विद्यार्थी को रहने और खाने की सुविधा कर देने वाला भोजनालय नहीं है।

२. छात्रालय का महत्त्व पाठशाला से भी अधिक है। छात्रालय तो एक तरह से माता-पितायुक्त घर की पूर्ति का प्रयत्न है। यही नहीं, बल्कि जो शुभ संस्कार माता-पिता-द्वारा घर में नहीं मिल सकते, उन्हें विद्यार्थी पर डालना उसका उद्देश है।

३. इस कारण पाठशाला के आचार्य या वर्ग-शिक्षक की अपेक्षा छात्रालय का गृहपति अधिक सुयोग्य व्यक्ति होना चाहिए। उसमें शिक्षक के अलावा माता-पिता के गुण भी होने चाहिएँ।

४. उसकी निगाह विद्यार्थियों के एक-एक काम और संगति पर पड़ती रहना चाहिए।

५. लड़के जब एक जगह रहते हैं तब उनके गुप्त और प्रकट दोष दिखाई देते हैं। गृहपति इसके विषय में बहुत चौकन्ना रहे।

६. छात्रालय में पंक्ति-भेद न होना चाहिए।

७. जहाँतक हो, छात्रालय में नौकर-चाकर न रखने चाहिए और निजी काम तो विद्यार्थियों को खुद ही करने चाहिए।

७. छात्रालय में खर्च उतना ही आना चाहिए जितना कि ग़रीब देश उठा सकता है।

९. विद्यार्थियों को नियमित रूप से मिष्टान्न खिलाने का रिवाज अच्छा नहीं है।

१०. छात्रालय ऐसा होना चाहिए जहाँ सादगी, मितव्यय, और संस्कारिता के दर्शन हों। छात्रालय में जाकर विद्यार्थी अधिक शौकीन, उड़ाऊ और उच्छृंखल हो जाय तो यह छात्रालय की सफलता नहीं कही जा सकती।

सा
हि
त्य

१. साधारण विचार
२. साहित्य की शैली
३. अनुवाद
४. अखबार
५. कला

卐

औ
र

क
ला

१. साहित्य और कला को सत्य, हितकारिता और उपयोगिता की कसौटी पर अवश्य पूरा उतरना चाहिए।

२. सत्य का व्यवहार यहाँ व्यापक अर्थ में हुआ है। तफ़सील अथवा हक़ीक़त की सत्यता से मतलब यहाँ नहीं है, बल्कि सिद्धान्त अथवा आदर्श की सत्यता से अभिप्राय है। उदाहरणार्थ—हरिश्चन्द्र या राम की कथा संभव हो या काल्पनिक हो; परन्तु उनमें जो सिद्धान्त और आदर्श ग्रथित किये गये हैं वे उपयोगी हैं—इससे इन कथाओं का साहित्य इस कसौटी पर पूरा उतरता है।

३. हक़ीक़त और वर्णन बिल्कुल सत्य हों और ज्यों-का-त्यों चित्र हमारी आँखों के सामने खड़ा कर देते हों, पर इससे यह नहीं कह सकते कि यह उचित प्रकार का साहित्य या कला है। बहुत सी हक़ीक़तें सत्य होने पर भी अहितकर और निरुपयोगी अथवा कम उपयोगी होती हैं। जो साहित्य और कला उन्हें उपस्थित करते हैं, वे हानिकर ही हैं—उदाहरणार्थ वेश्या के शृंगार-भवन का चित्र।

४. बहुत बार सत्य, नीति, धर्म इत्यादि की अन्तिम विजय बताते हुए भी उसके पहले असत्य, अनीति, अधर्म आदि का इतना बीभत्स चित्र खींचा जाता है कि उससे लोगों की अधम वृत्तियाँ ही उत्तेजित होती हैं। ऐसे साहित्य और कला को भी गन्दा ही समझना चाहिए।

१. कितना ही साहित्य होता तो उत्कृष्ट है परन्तु उसे सिर्फ वे ही लोग समझ सकते हैं जो या तो विद्वान् हैं या जो परम्परा से अवगत हैं। परन्तु आमतौर पर इसे साहित्य का गुण नहीं, त्रुटि ही समझना चाहिए। खास कारण न हो तो, साहित्य के उत्कृष्ट होते हुए भी, ऐसी भाषा और शैली साहित्यकार को ग्रहण करना चाहिए जिसे सर्व-साधारण समझ सकें।

२. इसमें अपवाद हो सकते हैं, जिनके कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

(१) भाषा के सरल और सुबोध होने पर भी विषय नवीन, असाधारण, कठिन और गहन विचार-युक्त हो तो संभव है कि ऐसे साहित्य को जन-साधारण दूसरे की सहायता के बिना न समझ सकें। जैसे—गीता। भाषा की दृष्टि से उसकी शैली इतनी सरल है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी उसे समझ सकता है, फिर भी लोग सहसा उसका तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सकते और विद्वानों की टीकाओं का आश्रय उन्हें लेना पड़ता है; क्योंकि उसका विषय कठिन और विचार गहन हैं—केवल भाषा-ज्ञान से वह समझ में नहीं आ सकता।

(२) यही बात शास्त्रीय—वैज्ञानिक ग्रन्थों पर भी घटित होती है। उनमें पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता है जिससे आप लोग उन्हें नहीं समझ

सकते। ऐसी दशा में उन ग्रन्थों को दोष नहीं दिया जा सकता—जैसे तर्कशास्त्र, क़ानून या वैद्यक-सम्बन्धी पुस्तकें।

(३) मनोरंजन के लिए बनाई पहेलियों, समस्याओं, गूढ़ोक्तियों, गूढ़ काव्यों, कबीर जैसों की उलटी बाणियों का अर्थ बहुतांश में परम्परा से ही जाना जा सकता है। ऐसा साहित्य यदि अल्पमात्रा में और ज्ञानदायी तथा निर्दोष हो तो कोई उसका विरोध न करेगा।

३. प्रथम दो प्रकार के अपवादभूत साहित्य का जितना अंश जन-साधारण के लिए आवश्यक और उपयोगी हो उतना सरल और सुबोध-भाषा में उपस्थित करना यह भी उन विषयों के पण्डितों का कर्तव्य है।

३] : : [अनुवाद

१. दूसरी भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का परिचय अपनी भाषा के लोगों को कराना भी साहित्य का एक उपयोगी अंग है।

२. अच्छे अनुवाद में नीचे लिखे गुण होने चाहिए—

(१) भाषा ऐसी सरल, सुबोध और बामुहाविरा होना चाहिए, मानों वह स्वभाषा में ही विचारा और लिखा गया हो। वह ऐसा न होना चाहिए कि जिससे मूलभाषा के विशिष्ट शब्दों—मुहावरों—का विशिष्ट अर्थ न समझने वाले उसे समझ ही न सकें।

(२) ऐसे शब्द-विशेष या मुहावरों का प्रयोग यदि अनुवाद में करना ही पड़े, अथवा पर्यायवाची शब्द गढ़ कर रखना पड़ें, या अपरिचित दृष्टांतों, रूपकों, दन्त-कथाओं का उल्लेख करना पड़े तो टिप्पणी में उनका स्पष्टीकरण कर देना चाहिए।

(३) वह कृति ऐसी मालूम होना चाहिए मानों अनुवादक ने मूल पुस्तक को हजम करके फिर स्वभाषा में उसे रचा हो।

(४) मूल पुस्तक जिन खूबियों के कारण प्रसिद्ध हुई हो और उत्कृष्ट मानी गई हो वे यदि अनुवाद में न आ सकें तो उसे साधारण श्रेणी का ही कहना होगा।

(५) आमतौर पर वह इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि मूल पुस्तक के एवज में उसका प्रमाण दिया जा सके।

इस कारण स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की अपेक्षा अनुवाद का काम हमेशा सरल नहीं होता। जो पुरुष मूल लेखक के साथ पूरा-पूरा समभाव न रख सके, एक-रस न हो सके और उसके मनोगत को न ग्रहण कर सके उसे उसका अनुवाद न करना चाहिए।

अनुवाद में तरह-तरह का भेद और विवेक रखने की आवश्यकता है—कितनी ही पुस्तकों का अक्षरशः अनुवाद करना आवश्यक हो सकता है, कितनी का सार-मात्र दे देना ही होता है। कितनी ही का भाषान्तर वेशान्तर के रूप में देना उचित होता है। कितनी ही पुस्तकें होती तो उत्कृष्ट हैं; परन्तु हमारा समाज उससे इतना विभिन्न होता है कि अनुवाद के रूप में उसे देने की आवश्यकता

ही नहीं होती। कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं कि जिनका अक्षरशः अनुवाद भी आवश्यक होता है और सारांश भी।

४] :: [अख़बार

१. अख़बार, मासिक पत्र आदि भी साहित्य-कार्य के अंग हैं। जन-साधारण को शिक्षित बनाने के ये जबरदस्त साधन हैं।

२. परन्तु इन साधनों का बहुत दुरुपयोग किया जाता है। लोगों को सच्ची ख़बरें, सच्ची जानकारी और सच्ची सलाह देने के बदले, जान-बूझकर झूठी, आधी झूठी, आधी सच्ची, अधूरी अथवा सच्ची जानकारी को ग़लत दृष्टि-बिन्दु से लोगों के सामने पेश करके लोगों को ग़लत रास्ते ले जाने का काम समाचारपत्रों द्वारा पद्धति-पूर्वक किया जाता है।

३. विज्ञापनों के द्वारा द्रव्य प्राप्त करने के लोभ में वे अनेक प्रकार की झूठ और अनीति फैलाने के साधन बने हैं।

४. जिस व्यक्ति को पढ़ने का शौक़ हो और फ़ुरसत भी हो परन्तु जल्दी वक़्त गुज़ारने के लिए कोई संगी-साथी मौजूद न हो और जी ऊब उठता हो तो, इस तरह उकता जाने में बुराई नहीं है। कुछ देर जी ऊबने के बाद फिर वह किसी-न-किसी काम को खोज लेगा और उसमें लग जायगा। परन्तु वह यदि ऐसा पत्र, मासिक या उपन्यास लेकर बैठेगा जो महज़ फ़ुरसत का वक़्त गुज़ारने के लिए ही प्रकाशित किया जाता है तो उससे मनोरंजन का तो सिर्फ़ आभास ही मिलेगा, परन्तु अधिक समय आलस्य

में ही बीतेगा और अधिकांश में अपने मन को हीनभावनाओं से चलित कर लेगा, एवं कुसंस्कारों को पुष्ट करेगा। पत्रों, मासिकों और उपन्यासों से अनेक युवक-युवतियाँ विकार-युक्त अवस्था में पड़े और कुमार्गों में प्रवृत्त हुए पाये गये हैं। ऐसे प्रकाशन जला देने के ही योग्य हैं। पत्र के या लेखन के व्यवसाय में सिर्फ उसी मनुष्य को पड़ना चाहिए जिसे यह निश्चय होगया हो कि उसे अपना अथवा दूसरे से प्राप्त, कोई सच्चा, हितकर और उपयोगी सन्देश जनता को देना है। उसे चाहिए वह दृढ़ता से सत्य पर आरूढ़ रहे, उसे ऐसी सत्य बातों और शिकायतों को भी प्रकाशित करना चाहिए जो उसके ख़िलाफ़ जाती हों और अपनी भूलों को शुद्ध और सरल भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए। उसे विज्ञापन की आमदनी के द्वारा खर्च निकालने का लोभ न रखना चाहिए, बल्कि अपनी उपयोगिता ही सिद्ध करके लोक-प्रियता के बल पर ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहिए कि ख़र्च निकल सके। इसके लिए वह पत्र ऐसा होना चाहिए जो केवल मुट्ठीभर लोगों की ही आवश्यकताओं का नहीं, बल्कि समस्त जनता की जरूरतों और विषयों की चर्चा करता हो।

५] : : [कला

प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने मानव-निर्मित सब कलाओं का सौन्दर्य नगण्य है। आकाश और पृथ्वी का सौन्दर्य, कला-रसिक के आनन्द के लिए काफ़ी है। जो मनुष्य उस कला का

तो स्वाद नहीं ले सकता, परन्तु मनुष्य-निर्मित कला का शौक़ीन समझा जाता हो तो समझना चाहिए कि वह मोहक दृश्यों को ही कला समझता होगा, वास्तविक कला का ज्ञान उसे न होगा।

२. वास्तविक कला, अच्छे साहित्य की तरह, विचारों को उपस्थित करने का साधन है और साहित्य की शैली के सम्बन्ध में जो विचार पहले प्रदर्शित किये गये हैं वे सम्यक् रूपसे कला पर भी चरितार्थ होते हैं।

३. यह कहना कि कला का नीति, हितकरता और उपयोगिता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ सौन्दर्य के ही साथ सम्बन्ध है, कला को न समझने के बराबर है। सत्य ही उच्च से उच्च कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है और वह नीति, हितकरता एवं उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता।

४. इस कारण कला मनुष्य-जीवन की उपयोगी साधन-सामग्री में दिखाई देनी चाहिएँ; और कला के कारण वे पदार्थ न केवल सुन्दर मालूम होने चाहिएँ, बल्कि ऐसे होने चाहिएँ जो अधिक अच्छी तरह से काम भी दे सकें।

५. जिस कला के लिए प्राणियों पर जुल्म और हिंसा की जाती हो, उन्हें अतिकष्ट उठाना पड़ता हो, उनमें बाह्य सौन्दर्य चाहे कितना ही हो, वह वास्तव में कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।

६. जो कला मनुष्य की हीन वृत्तियों को जगाती है और भोगों की इच्छा को बढ़ाती है उस कला को गन्दे साहित्य की तरह समझना चाहिए।

स्वयं-सेवक

एक

स्वयंसेवक के

सामान्य लक्षण

दो

ग्राम-सेवक के

कर्त्तव्य

१. स्वयंसेवक उसे कहते हैं जिसने जन-सेवा को ही अपने हृदय की मुख्य अभिलाषा बना ली हो। वह स्वयंसेवक नहीं है जो महज़ अपना पेट पालने के उद्देश से जन-सेवा में जुटा हो।

२. वह अपना सारा समय जन-सेवा के लिए दे देता है। इसलिए यदि वह अपने निर्वाह के लिए उसी उद्देश से स्थापित संस्था से कुछ द्रव्य ले तो इसमें कोई दोष नहीं है। और सुचारु रूप से ऐसे कार्यों को चलाने के लिए ऐसे स्वयंसेवकों की आवश्यकता तो रहती ही है।

३. परन्तु स्वयं-सेवक के निर्वाह की नीति दूसरे सेवकों की अपेक्षा भिन्न होती है। वह अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के तो उद्देश से सेवा-कार्य में पड़ा नहीं है। इसलिए वह अपने वेतन में वृद्धि की आशा न रक्खेगा। वह इस बात की चिन्ता रक्खेगा कि उस पर दूसरे के निर्वाह की जिम्मेवारी बढ़े नहीं। उससे कुछ प्रत्यक्ष अथवा भावी आशाओं के त्याग की अपेक्षा भी रक्खी जा सकती है। कुछ बचा रखने की नीयत से वह वेतन तय न करे; बल्कि ऐसी श्रद्धा रक्खे कि समय पड़ने पर ईश्वर उसे अवश्य पूरा कर देगा।

४. जो स्वयंसेवक इस बात का स्मरण या अभिमान रखता हो कि मैंने कुछ त्याग किया है अथवा मैं स्वयंसेवक

या आजीवन सेवक बना हूँ, वह अपनी पामरता प्रकट करता है।

स्वयंसेवक नम्रता की हद कर देता है—'शून्य' बनकर रहता है। वह उन सेवकों से, जो वेतनभोगी हैं, अथवा दूसरे व्यवसाय करने के बाद फ़ुरसत में सेवा-कार्य करते हैं, अपने को श्रेष्ठ न माने और उन पर तरजीह पाने का यत्न न करे।

स्वयंसेवक को अपनी किसी स्वार्थमय—जैसे यश, अधिकार, इत्यादि की महेच्छा की पूर्ति के लिए जन-सेवा के कार्य में न पड़ना चाहिए; बल्कि इसी इच्छा से पड़ना चाहिए कि मेरे देश-बन्धुओं को अधिक सुखकर मार्ग में प्रवृत्त कराने में निमित्तभागी बनूं।

इसलिए स्वयंसेवक अपनी नम्रता और मिठास से लोगों का और अपने साथियों का मनहरण कर लेता है; अपने कार्य-प्रदेश में जो-कुछ सफलता मिली हो उसका यश अपने साथियों को देता है एवं अपने सेवा-बल के द्वारा ही उनका प्रेम और आदर-पात्र बनता है।

निःस्वार्थ, नम्र, प्रामाणिक और चरित्रवान् स्वयंसेवक लोक-प्रिय न हुआ हो, ऐसा अनुभव नहीं। इसके विपरीत अनुभव ऐसा है कि जिसके प्रति लोगों के दिलों में विश्वास बैठ गया हो वह स्वयंसेवक अपने काय-प्रदेश में लगभग सर्वाधिकारी बन जाता है। लोग उसका कहा मानते हैं। वह न तो किसी का अनादर-पात्र होता है, न ईर्ष्या-पात्र

और न किसी को असुविधाजनक या कष्टदायी प्रतीत होता है।

९. जिसको बार-बार यह प्रतीत होता हो कि जनता अथवा दूसरे साथी अथवा नेता लोग या स्वयंसेवक-मंडल से बाहर के कार्यकर्त्ता कृतघ्न हैं, कार्य में विघ्न-रूप हैं तो निश्चय-पूर्वक समझना चाहिए कि उस स्वयंसेवक में ही कोई खराबी है। क्योंकि लोग आमतौर पर कृतज्ञ ही नहीं, बल्कि स्वयंसेवक की क़द्र करने में बहुत उदार होते हैं। यह अनुभव-सिद्ध है।

१०. स्वयंसेवक में नीचे लिखे गुण होने चाहिएँ,

(१) वह धार्मिक-वृत्ति होना चाहिए। अर्थात् उसे सत्कर्म, सद्वाणी और सदाचरण में पूर्ण निष्ठा होना चाहिए। इसके लिए उसमें लगन, भूल होने की अवस्था में पश्चात्ताप, और ऐसी दृढ़ श्रद्धा कि इसी में उसका और प्रजा का श्रेय है, होना चाहिए।

(२) उसका चरित्र इतना विशुद्ध होना चाहिए कि स्त्रियाँ उसके पास निःशंक होकर जा सकें और लोगों को भी स्त्रियों को उसके पास जाने देने में संकोच न हो।

(३) उसका आर्थिक व्यवहार बिल्कुल शुद्ध होना चाहिए। कितने ही लोग बड़ी-बड़ी रक़मों में तो प्रामाणिक होते हैं, परन्तु 'दमड़ी के चोर' होते हैं। कितने लोग पाई का हिसाब तो सही दे देते हैं; परन्तु बड़ी रक़मों में गोलमाल कर देते हैं। स्वयंसेवक दोनों

आक्षेपों से परे होना चाहिए और अपने को मिली एक-एक पाई का उसे ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए।

(४) उसे हमेशा उद्योगी—कार्यलीन रहना चाहिए। जो स्वयंसेवक गपशप में, फ़ालतू बातों में, निन्दा-स्तुति में अपना समय बिताता हो वह कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी कार्यलीनता लोगों के लिए उदाहरण-स्वरूप होना चाहिए।

(५) समय-पालन की आदत उसे अवश्य होना चाहिए। जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित किया हो उसमें ग़फ़लत या भूल न होना चाहिए।

(६) इसका अर्थ यह हुआ कि उसे सदैव नियम-पालन करना चाहिए। सुबह से शाम तक उसकी क्रिया, घड़ी की तरह, यथाक्रम चलनी चाहिए।

(७) फिर अपनी संस्था के सिद्धान्तों और नियमों का पालन उसे लगन के साथ करना चाहिए और जिनके मातहत हो उनकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन करना चाहिए। जो आज्ञापालन करना नहीं जानता वह कभी आज्ञा देने की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता।

(८) स्वयंसेवक को अपने शरीर और घर-बार की चिन्ता ईश्वर पर छोड़कर निःशंक रहना चाहिए। लोक-सेवा के लिए अपने धन, प्राण, कुटुम्ब, सुख-सुविधा, स्वतंत्रता इत्यादि का त्याग करने की पहली

जिम्मेवारी उसे अपने सिर ले लेना चाहिए और जब भी जरूरत आ पड़े, भारी जोखिम उठाकर भी, लोक-हित के कार्य में पड़ना चाहिए।

(९) स्वयंसेवक खुद तो बहुत सफाई-पसंद हो और साफ-सुथरा रहता हो; परन्तु अस्वच्छ लोगों से मिलने-जुलने में और उनकी अस्वच्छता को हटाने के कार्य से उसे नफ़रत न होना चाहिए।

(१०) स्वयंसेवक को अपनी दिन-चर्या (डायरी) लिखने की आदत होना चाहिए। और उसमें अपने दैनिक कर्मों का यथावत् उल्लेख करना चाहिए।

(११) ईश्वर-स्मरण से दिन का आरंभ करके, रात को सारे दिन के कार्य का सिंहावलोकन तथा उस पर मनन करके, फिर ईश्वर-स्मरण-पूर्वक सो जाना चाहिए—ऐसा स्वयंसेवक लोक-सेवा करते-करते श्रेय को ही प्राप्त होगा।

(१२) वह यदि विचार करेगा तो उसे पता लग जायगा कि उसे ब्रह्मचर्य धारण करके ही रहना चाहिए। और जब से उसे इस विषय में निश्चय हो जाय तभी से वह इस दिशा में प्रयत्नशील रहेगा।

१. ग्राम-सेवक का पहला धर्म है ग्राम-वासियों को सफाई की तालीम देना। इस तालीम में व्याख्यान और पत्रिकाओं का स्थान बहुत कम है—अर्थात् यह पदार्थ-पाठ के ही द्वारा दी जा सकती है। इतना करते हुए भी धीरज की आवश्यकता रहेगी ही। यह न समझ लेना चाहिए कि ग्राम-सेवक के एक-दो दिन करके दिखा देने से लोग अपने-आप करने लग जायँगे।

२. ग्राम-सेवक को चाहिए कि वह ग्रामवासियों को एकत्र करके पहले उन्हें स्वच्छता के सम्बन्ध में उनका धर्म समझावे। फिर गाँव में से ही कुदाली, फावड़ा, डलिया या डोल-बाल्टी और झाड़ू आदि चीजें प्राप्त करके खुद सफ़ाई का काम शुरू कर दे।

३. रास्तों को देख-भाल कर पहले मल को फावड़े से टोकरी में भर ले और मल की जगह मिट्टी डाल दे। जहाँ कहीं पेशाब किया हुआ हो वहाँ से भी भींगी मिट्टी फावड़े से से टोकरी में डाल ले और उस पर आसपास से साफ़ धूल लेकर डाल दे।

४. मैला किसान के लिए सुवर्ण का काम देता है। खेत में डालने से उसका बढ़िया खाद बनता है और फ़सल खूब पकती है। इसलिए किसानों को यह बात समझाकर किसी के खेत में मैले को कोई ९ इंच गहरा गाड़ दे—इससे अधिक

गहरा न होना चाहिए। मैले पर मिट्टी खूब डाल देना चाहिए।

५. मैले की सफ़ाई के बाद कूड़े-करकट की सफाई को हाथ में लेना चाहिए। कूड़ा-कचरा दो तरह का होता है—(१) खाद के लायक़—जैसे गोबर, मूत्र, साग-तरकारी के छिलके जूठन, आदि और (२) लकड़ी के टुकड़े, छिलके, पत्थर, टीन और लोहे के टुकड़े, कपड़ों के चिथड़े, आदि।

६. जो कूड़ा खाद के योग्य हो उसे अलहदा एकत्र करके मैले की तरह, परन्तु अलहदा गड्ढे में गाड़ना चाहिए और घूरे की जगह डाल देना चाहिए।

७. दूसरी तरह का कूड़ा-कंकर ऐसे बड़े गड्ढों में डालना चाहिए जो अच्छी तरह पूरे जा सकें। और जब गड्ढे भर जायँ तब मिट्टी डालकर गड्ढे को सपाट कर देना चाहिए। इस कचरे में से लकड़ी के छिलके, दतौन के टुकड़ों को धो और सुखाकर ईंधन के काम में ले सकते हैं और चिथड़े बेंचे जा सकते हैं।

८. घूरों की जगह सस्ते पाखाने बनाने का जिक्र पहले (आरोग्य-खण्ड में) किया ही गया है। जहाँ ऐसी व्यवस्था न हो वहाँ ग्राम-सेवक को तबतक, रास्तों की तरह ही, घूरों को भी साफ करना चाहिए जबतक इस तरह जमा हुए मैले की व्यवस्था करना किसान न सीख लें।

९. ग्राम-सेवक का यह भी काम है कि वह रास्तों को पक्का और अच्छा बनाने के लिए तजवीजें करें। स्थानिक परि-

स्थिति के अनुसार ये उपाय जुदे-जुदे हो सकते हैं गाँव के बड़े-बूढ़ों से शायद इसमें सलाह मिल सकती है।

१०. सफाई के काम से निवृत्त होने पर ग्राम-सेवक आवश्यक औजारों और साधनों को लेकर गाँव के चरखे, लोढ़ने, पींजन आदि की जाँच के लिए निकले। जहाँ मरम्मत की जरूरत मालूम हो वहाँ कर दे और करना सिखा भी दे। नये शिक्षार्थियों के काम की जाँच करके उन्हें आवश्यक सूचनायें दे। नये उम्मीदवारों के लिए अलहदा समय निकाल कर उन्हें सिखावे। जिस समय गाँव के लोग इन कामों को करते हों उसी समय जाँच के लिए निकलना चाहिए।

११. सूत तथा बुनाई का प्रबन्ध यदि ग्राम-सेवक के द्वारा होता हो तो उसके लिए एक समय निश्चित कर लेना चाहिए और लोगों को उसी समय आने की आदत डलवाना चाहिए। उसी समय सूत और बुनाई की जाँच करके उनमें आवश्यक सुधार सुझाने चाहिए।

१२. ग्राम-सेवक को चाहिए कि वह दिन में कम से कम एकबार ऐसे समय जो ग्राम-वासियों के अनुकूल हो, उन्हें एकत्र करके समूह-प्रार्थना करे। वह ऐसी भाषा में होनी चाहिए जिसे सब लोग समझ सकें। ग्राम-सेवक को संगीत का ठीक ज्ञान होना वाञ्छनीय है। यदि वह न जानता हो तो गाँव के ही किसी जानकार से भजन या रामनाम आदि की धुन गवाना चाहिए—और दूसरों को भी उसमें

शामिल करना चाहिए। बहुतेरे गाँवों में तो भजन-मण्ड-
लियाँ या भजनानंदी अक्सर रहते ही हैं। उन्हें नये और
अच्छे भजन सिखाकर प्रार्थना में उनका उपयोग करना
चाहिए।

१३. प्रार्थना के बाद लोगों को अखबारों से उपयोगी बातें, अच्छे
लेख, पुस्तकें, धार्मिक ग्रन्थ या कथा पढ़ या कह कर सुनाना
चाहिए।

१४. ग्राम-सेवक को नीचे लिखी बातों पर खास तौर से ध्यान
देना चाहिए—

(१) गाँव में यदि पक्ष और दल हों तो वह अपनेको
उनसे बचावे—किसी भी पक्ष या दल में अपनेको
शरीक न करे—तटस्थ रहे और सब की सम-भाव
से सेवा करे, सबसे समान स्नेह-सम्बन्ध रखे और
अपने प्रभाव से यदि हो सके तो इस फूट को मिटाने
का यत्न करे।

(२) मिष्टान्न आदि भोजन के निमन्त्रण आवें तो आम-
तौर पर उन्हें नामंजूर कर दे। ग्रामवासी ग्राम-सेवकों
के प्रति अपना स्नेह और ममत्व प्रदर्शित करने के
लिए समय-समय पर उन्हें निमन्त्रण देते हैं और
ग्राम-सेवक उनके मुलाहजे से उन्हें मंजूर करने
लगता है। परन्तु इससे कितने ही ग्राम-सेवक स्वाद-
लोलुप होजाते हैं और फिर ऐसे घरों और अवसरों
की खोज में रहते हैं एवं आगे चलकर खुद होकर

निमन्त्रण चाहने में भी नहीं हिचकते। ग्राम-सेवक को याद रखना चाहिए कि ऐसा खर्च वे ग्रामवासी भी, जो अच्छी हालत में समझे जाते हैं, अपनी शक्ति के बाहर ही उठाते हैं और अतिथि-खर्च ग्रामवासियों पर इतना अधिक होता है कि ग्राम-वासियों में मिहमानों के लिए सादा भोजन बनाने का रिवाज डालना जरूरी है। इस कारण ग्राम-सेवक को चाहिए वह मिष्टान्न के निमन्त्रणों को न स्वीकार करे, और यदि कहीं स्वीकार करना ही पड़े तो कम से कम मिष्टान्न का त्याग अवश्य करदे—भले ही ग्रामसेवक आमतौर पर मिष्टान्न खा लेता हो तो भी वहाँ तो उसे सादा भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।

(३) ग्राम-सेवक को अपने खाने-पीने की आदतें बहुत सादी रखनी चाहिए जिससे बहुत ग़रीब घर को भी उसकी सुविधा के लिए दौड़-धूप न करना पड़े। या ख़ास तैयारी न करनी पड़े।

(४) ग्राम-सेवक को संयमपूर्ण और तप-व्रत-मय जीवन बिताना चाहिए; परन्तु ग्राम-सेवेच्छु को व्रत देहात की हालत का ख़याल करके लेना चाहिए—अन्यथा वे स्वच्छन्दता-रूप बनकर ग्रामवासियों के लिए दुविधाजनक होजायँगे। उदाहरणार्थ—कोई ग्रामसेवक

शस्त्र छोड़कर, शस्त्र माँगे, अथवा न्याय छोड़कर फौजी या देशी सत्ताओं की फौजें चाहें तो वे इन पूर्वोक्त दोषों के पात्र हो जायेंगे ।

सं

स्था

यें

१. संस्था की सफलता

२. संस्था का संचालक

३. संस्था के सभ्य

४. संस्था का आर्थिक व्यवहार

१] :: [संस्था की सफलता

१. किसी भी संस्था की सफलता नीचे-लिखी शर्तों पर अवलम्बित रहती है—

(१) संस्था के उद्देश के प्रति अत्यन्त वफ़ादारी और निष्ठा और उसकी सिद्धि की तीव्र लगन।

(२) संस्था के नियमों का स्थूल रूप में ही नहीं भाव रूप में भी पालन।

(३) संस्था के सञ्चालक, सभ्य, सेवक, आदि कार्यकर्ताओं में भ्रातृभाव और एक-राग।

२. इन तीन में से यदि एक भी शर्त का पालन न होता हो तो, और अनुकूलतायें रहते हुए भी, वह संस्था तेजस्वी न रह सकेगी और स्फूर्तिदायी काम न कर सकेगी।

२] :: [संस्था का सञ्चालक

१. संस्था का संचालक ही संस्था का प्राण है—ऐसा कह सकते हैं।

२. उसकी उद्देश के प्रति निष्ठा और उत्साह, उसका नियम-पालन, दूसरे सभ्यों के प्रति व्यवहार, उद्योगशीलता—इन सबपर संस्था की सफलता बहुत-कुछ अवलम्बित रहती है।

३. संचालक को अपने अधिकार का गर्व, अथवा संस्था के

दूसरे सभ्यों के प्रति अनादर या अरुचि रहती हो तो इससे संस्था को धक्का पहुँचेगा।

४. जिस प्रकार अच्छा सेनापति नियम-पालन कराने में बहुत सख्त होता है; परन्तु फिर भी अपने सिपाहियों का प्रेम-सम्पादन करने की चिन्ता रखता है, और उनके लिए अभिमान रखता है, वैसी ही स्थिति संस्था के सञ्चालक की होना चाहिए।

५. सञ्चालक की दृष्टि संस्था की छोटी-छोटी बातों पर भी चली जाना चाहिए। उसे माता की तरह उस संस्था में रहनेवाले प्राणियों के सुखदुःख की चिन्ता रखना चाहिए।

६. संचालक प्रसंगानुसार अपने अधिकार का उपयोग करे; परन्तु फिर भी अपने मन में अपने मातहत लोगों के साथ समानता का अथवा साथीपन का सम्बन्ध ही माने—छोटे छोटे आदमी को भी वह अपना मित्र ही समझे। वह यह माने कि मेरा सञ्चालकपन मेरी योग्यता के बदौलत नहीं है, बल्कि साथियों के मेरे प्रति पक्षपात या आदर के कारण ही है।

७. फलतः वह छोटे से छोटे व्यक्ति की भी सूचना को आदर के साथ सुनेगा और वह उचित हो तो उसे स्वीकार करने के लिए तैयार रहेगा पर यदि अनुचित प्रतीत हो तो उसका अनौचित्य उसे समझाने का यत्न करेगा।

८. सञ्चालक को कान का कच्चा न होना चाहिए। किसी के विषय में जल्दी प्रतिकूल राय न बनाना चाहिए; बल्कि

प्रतिकूल राय बनाने में दीर्घसूत्री ही बने और जबतक स्पष्ट प्रमाण न मिल जाय प्रतिकूल राय न बनावे।

९. अपने अधीन काम करनेवालों में से संचालक किसी को विशेष प्रियपात्र न बनावे; किसी का पक्षपात न करे; और एक की हीनता दिखाने के लिए दूसरे की प्रशंसा न करे।

१०. नियमों का ठीक-ठीक पालन कराने के लिए व्यवहार या वाणी में कठोरता लाने की या सजा देने की जरूरत नहीं। जिस सञ्चालक को इसकी जरूरत मालूम होती है वह अपनी योग्यता की कमी को प्रदर्शित करता है।

१. जिस संस्था के सभ्यों में परस्पर भ्रातृभाव और आदर नहीं है वह अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती; उसमें शाखाएँ और दलबन्दियाँ होजायँगी; और वे मूल उद्देश को भूलकर एक-दूसरे के साथ कलह करने में ही जुट पड़ेंगे।

२. जिस संस्था के सभ्य अपने वरिष्ठों (जिनके अधीन वे काम करते हैं) की आज्ञा पालन करने के लिए हर्ष से तत्पर न रहते हों वह अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें आलस्य, और ढीलापन आजायगा और सभ्य प्रमादी होजायँगे।

३. सञ्चालक और सभ्यों में केवल ऊपरी ही नहीं, बल्कि मानसि कसहयोग भी होना चाहिए। अर्थात् सभ्यों के लिए इतना ही काफी नहीं है कि वे सञ्चालक की इच्छा या आज्ञा के ही अधीन रहें। परन्तु यदि वे उस इच्छा या आज्ञा के औचित्य को मानते हों तो फिर उनका व्यवहार ऐसा होना चाहिए मानों खुद उन्होंने ही इस काम को करने का निश्चय किया है।

४. यदि नियम या आज्ञा के औचित्य के विषय में सभ्यों को सन्तोष न हो तो उन्हें उचित है कि वे उसके सम्बन्ध में सञ्चालक से दिल खोलकर बातें करलें। और जबतक समाधान न हो जाय तबतक सञ्चालक के मन में ऐसा भास न उत्पन्न होने देना चाहिए कि समाधान हो गया है।

५. यदि ऐसा नियम या आज्ञा सत्य या धर्म के विपरीत न मालूम हो, सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से ही अनुचित प्रतीत हो तो, उसके औचित्य के बारे में सन्तोष न होने पर भी उसका पालन करना चाहिए और यदि वह सत्य एवं धर्म के विरुद्ध मालूम हो तो संस्था छोड़ने तक के लिए तैयार रहना चाहिए।

६. यदि नियम या आज्ञा सत्य धर्म के विरुद्ध न हो, परन्तु उनका पालन कठिन मालूम हो तो सभ्य को, संस्था के उत्कर्ष के लिए, संस्था को छोड़ना ही इष्ट है।

७. सभ्यों में यदि परस्पर मत-भेद हो, किसी के आचरण के विषय में शंका पैदा हो या उससे किसी को असन्तोष या दुःख पहुँचा हो, किसी के आशय के विषय में मन में सन्देह पैदा हुआ हो—तो ऐसे अवसर पर सबसे पहले उस व्यक्ति से ही खुलासा करा लेना चाहिए। यदि उससे सन्तोष न हो और उसके सम्बन्ध में हमारी राय वैसी ही क़ायम रहे, या अधिक दृढ़ हो जाय तो उसकी सूचना उसके या अपने वरिष्ठ को तुरंत देना चाहिए और उचित कार्रवाई करने का भार उसपर सौंप देना चाहिए।

८. उस व्यक्ति के साथ साफ़ बात-चीत करने का प्रयत्न किये बिना उसके सम्बन्ध में वरिष्ठ से या किसी दूसरे से जिक्र करना निकटवर्ती वरिष्ठ को ख़बर किये बिना ठेठ वरिष्ठ अधिकारी तक बात पहुँचाना अनुचित है।

९. अपने मन में किसी के विषय में इस प्रकार कोई बुरा ख़याल बन रहा हो तो तुरन्त उसका ख़ुलासा कराने के बदले उसे मनमें संग्रह करके रख छोड़ना, वरिष्ठ को जनाने की आवश्यकता उपस्थित होने पर भी उसे न जनाना, संस्था में गंदगी इकट्ठी करन[illegible]

१०. जिस संस्था में सभ्यों के [illegible] (-अन्दी [illegible] कानाफूसी होती रहती हो, फिर भी वरिष्ठ [illegible] सकी [illegible] ख़बर न पहुँचती हो, और जिसके सम्बन्ध में बातें होती हों उससे भी ख़ुलासा न कराया जाता हो तो वह संस्था तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें पाप, दम्भ, असत्य, और झूठी लज्जा प्रवेश करके उसको निष्प्राण बना डालेगी।

४] : : [संस्था का आर्थिक व्यवहार

१. धन के अभाव में कोई सच्चा काम रुक गया हो—ऐसा देखा और सुना नहीं।

२. पूँजी एकत्र करके उसके ब्याज में से ख़र्च चलाने की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। संस्था के संचालकों में यह दृढ़ श्रद्धा होना चाहिए कि जिस संस्था का उपयोग लोगों के लिए है उसके निर्वाह के लिए धन अवश्य मिलता रहेगा।

३. हाँ, यह सच है कि जब तक उस संस्था की उपयोगिता के विषय में लोगों को विश्वास न हो जाय तबतक सञ्चालकों को अधिक मिहनत करनी पड़ेगी; परन्तु वह तो

उनकी तपश्चर्या और सेवा का ही फ...

४. इसके बाद तो इतनी मदद मिलती रहती है कि अनेक संस्थाओं की निष्प्राणता का कारण उनके पास होने वाला अर्थ-संचय ही होजाता है। इस कारण आदर्श संस्था को धन एकत्र [illegible] र में न पड़ना चाहिए।

५. सार्वज[illegible] ली संस्थाओं में कमख़र्ची की ओर [illegible] म या आज्ञा स[illegible] दिया जाता है। यह बड़ा दोष है। जो संस्थायें भारत जैसे ग़रीब देश की सेवा करने के उद्देश से बनी हैं उनका काम अत्यन्त कमख़र्ची से चलना चाहिए।

६. संस्था में हिसाब-किताब की सफ़ाई पर पूरा और ख़ास ध्यान रखना चाहिए पाई-पाई का हिसाब महाजनी पद्धति से रखना चाहिए और प्रमाण-भूत हिसाब परीक्षकों से उसकी जाँच कराते रहना चाहिए।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

१–दिव्य-जीवन ।=)

२–जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १।)

३–तामिलवेद ॥)

४–शैतान की लकड़ी अर्थात् व्यसन और व्यभिचार ॥=)

५–सामाजिक कुरीतियाँ ॥) (ज़ब्त)

६–भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १॥-)

७–अनोखा ! १।=,

८–ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥-)

९–यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)

१०–समाज-विज्ञान १॥)

११–खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥≡)

१२–गोरों का प्रभुत्व ॥=

१३–चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)

१४–दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)

१५–विजयी बारडोली २)

...ा है। ...ाह पर ।≡)

...पों की अन्दर-अन्दी

१७–... उसकी परीक्षा ।-)

१८–कन्या-शिक्षा ।)

१९–कर्मयोग ।=)

२०–कलवार की करतूत =)

२१–व्यावहारिक सभ्यता ।)॥

२२–अँधेरे में उजाला ।≡)

२३–स्वामीजी का बलिदान ।-

२४–हमारे ज़माने की गुलामी (ज़ब्त) ।)

२५–स्त्री और पुरुष ॥)

२६–घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)

२७–क्या करें ? (दो भाग) १॥=)

२८–हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)

२९–आत्मोपदेश ।)

३०–यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)

३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे— ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=) (अप्राप्य)

३३—श्रीरामचरित्र १।)

३४—आश्रम-हरिणी ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)

३७—महान् मातृत्व की ओर— ॥।=)

३८—शिवाजी की योग्यता ।=) (अप्राप्य)

३९—तरंगित हृदय ,, ॥)

४०—नरमेध १॥)

४१—दुखी दुनिया ॥)

४२—ज़िन्दा लाश ॥)

४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)

४४—जब अंग्रेज़ आये (ज़ब्त) १।=)

४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

४६—किसानों का बिगुल =) (ज़ब्त)

४७—फाँसी ! ॥)

४८—अनासक्तियोग तथा गीताबोध (श्लोक-सहित) ।=)

अनासक्तियोग =)

गीताबोध— -)॥

४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका) (ज़ब्त) ।=)

५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥)

५१—भाई के पत्र १॥)

सजिल्द १॥।)

५२—स्वगत— ।=)

५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)

५४—स्त्री-समस्या १॥।)

सजिल्द २)

५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)

५६—चित्रपट ।=)

५७—राष्ट्रवाणी ॥=)

५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)

५९—रोटी का सवाल १)

६०—दैवी-सम्पद् ।=)

६१—जीवन-सूत्र ॥।)

६२—हमारा कलंक ॥=)

६३—बुद्बुद ॥)

६४—संघर्ष या सहयोग? १॥)

६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)